1.
बढ़ै सो पावे...

देश में आयोजित किसी भी कार्यक्रम में पहुँचिए, चाहे वह सम्यग्दर्शन का निमित्तभूत पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हो या वेदी प्रतिष्ठा या कोई विधान। सारे ही देश में, चाहे उनके आयोजक/प्रायोजक/संचालक कोई भी हों; परन्तु सर्वत्र ही भव्य पाण्डालों में, दिग्दिगन्त को गुंजायमान करनेवाले ध्वनिप्रसारक यन्त्रों द्वारा, यशस्वी प्रतिष्ठाचार्यों, मधुर कंठ के धनी गायकों व मंच संचालकों के मुख से एक ही आवाज सुनाई देती है – 'बढ़े सो पावे।'

भाइयो! आप महान पुण्यशाली हैं, आपके जीवन का महान प्रसंग है, आप चमत्कारी/वीतरागी जिनबिम्ब को विराजमान कर, अपने जीवन में भी चमत्कार कीजिए। चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग कीजिए। सौधर्म इन्द्र जैसा पुण्य जिसके होगा, उसी को भगवान विराजमान करने का सौभाग्य मिलेगा। भावों को बढ़ाइये, साथ ही बोली भी बढ़ाइये। बढ़े सो पावे। भाइयो! हजारों वर्षों तक जिनेन्द्र भगवान के दर्शन कर लोग अपने जीवन को सफल बनायेंगे, ऐसे जिनबिम्ब को विराजमान करने का महान सौभाग्य; यदि अवसर चूक गये तो घर जाकर पछतायेंगे, पत्नी लड़ेगी, हिम्मत कीजिए; 'बढ़े सो पावे।'

इन प्रेरणास्पद वाक्यों को सुनकर वैभवशाली लोग, लोभ कषाय किंचित् कम करके, मान कषाय का पोषण करते हुए, बढ़कर (बोली बढ़ाकर) पा जाते हैं, जिनबिम्ब को विराजमान करने का अवसर।

कोई पूछने वाला नहीं है कि यह भगवान विराजमानकर्ता प्रतिदिन मंदिर भी जाता है या नहीं (अभिषेक–पूजन करना तो दूर की बात है)। नहीं जाता हो तो कोई बात नहीं, पर क्या भगवान विराजमान करने के साथ देवदर्शन/पूजन का भी नियम ले रहा है या नहीं। क्या यह भगवान

विराजमानकर्ता, मात्र बोली लगाकर ही पुण्य कमा लेंगे या आगे भी कोई जिम्मेदारी निभायेंगे? पर इन बातों के बारे में कौन और क्यों सोचे? (सबको भय है कि यदि इस तरह की बात की तो बोली लेने वाले ही नहीं मिलेंगे, अपने को तो बोली से मतलब। उनका पाप उनके माथे।)

अन्यत्र शोर है ''भाइयो-बहनो! सभी को अपने हाथ पवित्र करने का मंगल अवसर; महान आचार्यों द्वारा लिखित, महान जिनवाणी, भवसागर तारिणी, तत्त्वप्रकाशिनी, दो हजार वर्ष पुरानी, फिर भी नित नूतन; आओ!! अपने जीवन को सफल करो, जिनवाणी विराजमान कर पुण्य कमाओ - बढ़े सो पावे..।''

भाइयों की समझ में आ जाती है, बोली बढ़ा कर अवसर प्राप्त कर लिया जाता है और सपरिवार फोटो खिंचाकर इस ऐतिहासिक क्षण को संचित/रक्षित कर लिया जाता है।

यह कौन कहे/सोचे? भवोदधितारक जिनवाणी को वेदी में विराजमान करने से भवसागर तिरा जायेगा या हृदय में विराजमान करने से, सपरिवार जिनवाणी विराजमान करते हुए फोटो खिंचाने से मिथ्यात्व का अभाव होगा या जिनवचनों में रमने से। शास्त्र में तो यह कहा है - ''जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः''। ऐसा तो नहीं लिखा कि जिनवाणी को विराजमान करनेवालों के मोह का नाश होता है।

अधिकांश (सभी नहीं) लोगों को भगवान/जिनवाणी विराजमान करने का मोह/राग है, पर मोह दूर करने हेतु इनका लाभ कैसे लिया जा सके, न इसकी भावना है; न मोह, राग दूर करने की मंचों से प्रेरणा। प्रेरणा है तो बोली लगाकर नैया पार करने की। नैया किसकी पार होगी पता नहीं।

अन्य किसी अवसर पर शोर गूँज रहा है - ''भाइयो! अपने करकमलों को पवित्र करने का महान् अवसर, आज इन जिनबिम्ब का इतने माह/वर्ष बाद प्रथम बार मस्तकाभिषेक करने का मंगल अवसर, यह महान कार्य सौधर्म/ईशान आदि इन्द्रों को प्राप्त होता है, जरा-सा जोर लगाइये, भावना भाइये, बढ़े सो पावे।''

भावना भाकर बोली ले ली गई है, मस्तकाभिषेक प्रारम्भ हो रहा है, परन्तु शुद्धाशुद्ध वस्त्रों का, प्रासुक जल का, परिमित जल के प्रयोग का, गंधोदक की अविनय न होने का, अभिषेक के पश्चात् प्रक्षालन का किसी को कोई लेना-देना नहीं है।

अभिषेक करानेवाला प्रसन्न है कि बोलियाँ अच्छी लगीं, करनेवाला प्रसन्न है कि सबसे पहले अभिषेक करने का अवसर उसे ही मिला। क्या यह उचित है? विचारणीय है।

सारी ही गौरवशाली अर्थवती (प्रयोजन पूरा करनेवाली) क्रियायें, इस अर्थ (धन) प्रधान युग में अर्थ की अभिलाषा में अनर्थकारी (प्रयोजनरहित भी व अहितकर भी) होती जा रही हैं। ऐसे महोत्सवों में यह समझ नहीं आता कि यह धार्मिक कार्यक्रम है या बाजार।

अनेक स्थलों पर दिन भर में घंटे दो घंटे के प्रवचन बड़ी मुश्किल से सुनने को मिलते हैं (क्योंकि प्रवचन करनेवालों और सुननेवालों को इसकी अपेक्षा ही नहीं है।) और बोलियाँ घंटों चलती हैं, प्रतिष्ठाचार्यों/बोली लगाने वालों की भेंट का आकार भी बोलियों के आकार पर निर्धारित होता है। अतः बोली विशेषज्ञ, दानदाताओं की प्रशंसा में कसीदे गढ़ने हेतु अनेक गीतों/छन्दों/शेरो-शायरियों का भी उपयोग करते हैं; ऐसा भी सुना है। शायद आपने प्रत्यक्ष देखा-सुना हो। जो प्रवचन होते भी हैं; उनमें भी ज्यादातर दान व दानदाताओं के गुणकीर्तन करनेवाले ही होते हैं।

यह सत्य है कि किसी भी आयोजन में धन की भी आवश्यकता होती है और उसके लिए कुछ कार्यक्रम भी आवश्यक हैं, पर इसके लिए धार्मिक आयोजनों/व्यवस्थाओं/क्रियाओं का बाजारीकरण तो नहीं किया जाना चाहिए कुछ तो मर्यादा (भाषा/भाव/समय की) होनी ही चाहिए।

महोत्सव को सफल बनाने के लिए धन की व्यवस्था हो, परन्तु धन की व्यवस्था के लिए तो महोत्सव नहीं होना चाहिए और यदि किसी कारण से ऐसा करना पड़ा तो यह मानना ही चाहिए कि महोत्सव का आगमोक्त फल तो नहीं मिलेगा, मनोक्त/जनोक्त फल (धन संग्रह) जरूर मिल जायेगा।

यदि कदाचित् इस प्रकार से धन एकत्र कर जिनधर्म की प्रभावना (धार्मिक पाठशाला/विद्यालय संचालन, साहित्य प्रकाशन आदि) में ही लगाया जाता है, तब तो शायद इस वृत्ति को 'बहुधन बुरा हू भला कहिये' के अनुसार उपयुक्त कहा जा सके, पर मात्र धन एकत्र कर बैंक बैलेंस बढ़ाना, एक बिल्डिंग और खड़ी करना और फिर धन के कारण राजनीति करना किसी भी अपेक्षा उचित नहीं है।

भगवान/जिनवाणी विराजमान करने/कराने का निषेध नहीं है, न ही विराजमानकर्ताओं के चयन हेतु बोलियों के लगाये जाने का; हम तो यह कहना चाहते हैं कि जहाँ हम भगवान/जिनवाणी को विराजमान कराने की प्रेरणा देवें, वहीं प्रतिदिन देवदर्शन/पूजन करने, स्वाध्याय करने की प्रेरणा भी देवें। साथ ही जो विराजमान करनेवाले हैं, उनको भी यह समझना ही चाहिए कि भगवान/जिनवाणी विराजमान करना अच्छा कार्य है, पुण्योदय से धन प्राप्त है तो उसे ऐसे ही कार्यों में लगाकर तत्त्वप्रचार हेतु संचालित गतिविधियों में सहयोग देने में ही उसकी सार्थकता है। यदि हमारे साधर्मियों के पास धन के भण्डार हों और तत्त्वप्रचार की गतिविधियों में धनाभाव से शिथिलता आ जावे; तब तो यह शर्मनाक घटना हो जायेगी; अत: पुण्योदय से प्राप्त धन की सार्थकता पुण्य कार्यों में लगाने में ही है, परन्तु मानव जीवन की सार्थकता मात्र इतने में नहीं है; अपितु देवदर्शन करने व स्वाध्याय कर वस्तुस्वरूप समझने व स्वीकार करने में है, आत्मदर्शन करने में है।

बोली बढ़े तो पद/अवसर पावे और भाव बढ़े तो भव जावे। दोनों का ही लाभ लेवें – यही भावना है। **सितम्बर 2013**

❒❒❒

2.

क्या आदर्श कभी यथार्थ नहीं होना चाहिए?

(आदर्श चित्र में या चित्त में?)

जीवन के हर क्षेत्र में किसी न किसी के आदर्श होने की बात कही जाती है। यथा – 'कोई न कोई आदर्श होना चाहिए', 'कुछ कार्य आदर्श होने चाहिए'; 'कहीं आदर्श नहीं दिखाई देता'; 'हमारा तो यही आदर्श है'; 'हमारे तो वे आदर्श हैं' – आदि। पर क्या यथार्थ जीवन में कोई उन आदर्शों को अपनाता हुआ दिखता है?

आखिर आदर्श है क्या? 'आ समन्तात् दर्शयति इति आदर्श:' अर्थात् जो चारों ओर/सब ओर से दिखलाता है या जिसका हर पक्ष अर्थात् ज्ञान/दर्शन/चारित्र दर्शनीय होता है, वह आदर्श है। आदर्श दर्पण को भी कहते हैं; क्योंकि वह हमारे वास्तविक रूप (शारीरिक) को दिखलाता है। अत: सिद्ध हुआ कि जो हमारा वास्तविक स्वरूप दिखलावे, वह आदर्श है। आदर्श का भाव प्रेरक/उत्कृष्ट/निर्दोष भी समझा जा सकता है।

पर प्रश्न यह है कि हम अन्य के द्वारा निर्धारित आदर्शों को तो छोड़ें, पर क्या जिन्हें हम आदर्श कहते हैं, उनका शतांश भी यथार्थ जीवन में उतार पाते हैं? क्या आदर्श कहने, चित्र लगाने या पत्रिकाओं में छापने मात्र के लिए ही होते है; चित्त में स्थापित करने के लिए नहीं। इस संबंध में विचार किया जाना चाहिए।

हम अरहन्त-सिद्ध को आदर्श मानते हैं; उनके चित्र लगाते हैं, जयकारे लगाते हैं, जीवन के हर मांगलिक क्षण में उन्हें किसी न किसी रूप में स्मरण करते हैं, परन्तु क्या उस क्षण के अलावा हमारे दैनिक जीवन का कोई भी आचार-विचार-व्यवहार उनके नजदीक खड़े होने जैसा लगता है? आचार्य, उपाध्याय, साधु अर्थात् वस्तु स्वातंत्र्य के पर्यायवाची, प्रत्येक

वस्तु की निर्ग्रन्थता के द्योतक, सरलता-समता-सहजता-निर्दोषता के प्रतिमान, चलते-फिरते सिद्ध; ये हमारे आदर्श हैं; पर क्या इनका संबंध हमारे यथार्थ जीवन से थोड़ा भी दिखाई देता है? हम अपने जीवन का संबंध क्या उनके अनुयायियों के रूप में बताना चाहते हैं?

रात्रिभोजन करने/करानेवाले, परिवार व समाज में अनुशासन तोड़ कर, स्वच्छंद जीवन की भावना रखने वाले, कैसे भी धन प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले, निरन्तर पद, परिग्रह का ध्यान करने वाले, सदाचार/श्रावकाचार को बंधन समझने वाले जैनों के आदर्श पंच परमेष्ठी हैं; यह सुनकर कुछ अटपटा-सा नहीं लगता है। वर्तमान में ऐसा जीवन देखकर तो लगता है कि आदर्श कहने मात्र के लिए ही होते हैं, उनका यथार्थ जीवन से कोई संबंध नहीं है।

हम गुरुदेवश्री को अपना आदर्श मानते हैं। उन्होंने हमें प्रवृत्ति/बाह्य क्रियाकांडमय जीवन से बाहर निकालकर स्व में प्रवृत्ति करने हेतु प्रेरित किया और हम पुन: शनै:-शनै: उसी प्रवृत्ति/आडम्बर/क्रियाकाण्ड की ओर बढ़ते जा रहे हैं। उन्होंने सामाजिक/आर्थिक सभी प्रकार के बंधन/दायरे तोड़ कर एक विशाल मुमुक्षु परिवार की (अघोषित) स्थापना की, पर हम पुन: अन्य किसी आधार पर, दायरों में घिरते चले जा रहे हैं। क्या हम उनके आदर्शों पर चल रहे हैं? या श्री कानजी स्वामी हमारे आदर्श हैं - ऐसा कहने लायक हम हैं? (यदि हैं तो धन्यवाद)

अभी एक वर्ष पूर्व ही (फरवरी 2012) जयपुर में पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जिसे कि मुमुक्षु समाज की शीर्षस्थ संस्था कहा जाता है; द्वारा गुलाबी नगर जयपुर में तथा 2 माह पूर्व ही (नवम्बर 2012) श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट मुम्बई, जिसे कि मुमुक्षु समाज की संसद कहा जाता है; द्वारा तीर्थराज सम्मेदशिखरजी में पंचकल्याणकों में एक आदर्श प्रस्तुत किया गया कि बढ़ती हुई आबादी तथा कार्यक्रमों में बढ़ती हुई जनसंख्या के मध्य किसी दुर्घटना का शिकार न होना पड़े और इससे भी बढ़कर हमारे

निमित्त से मात्र क्षणिक, काल्पनिक आनंद व प्रभावना के नाम पर किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचे, अत: पशुओं के प्रयोग रहित आयोजन किये गए।

पर क्या मुमुक्षु समाज इस आदर्श को अपने यथार्थ जीवन में उतार पाई है/उतारना चाहती है? शायद नहीं। तभी तो उसके बाद होने वाले आयोजनों में हम अपने मनरंजन हेतु पशुओं के प्रयोग से नहीं बच रहे हैं। अत: कहा जा सकता है कि आदर्श मात्र नारों के लिए हैं, उनका यथार्थ जीवन से कोई सरोकार नहीं है; पर ऐसा होना नहीं चाहिए। यदि हम अपना जीवन धर्ममय बनाना चाहते हैं, जीवन में सुख-शान्ति चाहते हैं तो हमें अपने आदर्शों को चित्रों में नहीं, चित्तों में स्थान देना चाहिए; आदर्श को यथार्थ जीवन में लाना चाहिए; तभी हमारा जीवन भी किसी के लिए आदर्श बन सकेगा।

फरवरी 2013

❒❒❒

मन्दिर, वेदी और पुराणों की जिल्द मढ़ाने से क्या होगा।
बिम्ब अगर खोटे हों, दर्पण रोज सजाने से क्या होगा।
श्वेत वदन व कालिख मन हो, मरी भावना, धर्म प्रबल हो
कर्म अगर ओछे हों, प्रभु को अर्घ्य चढ़ाने से क्या होगा?
संयम, सम्यक् ज्ञान बिना ये रीति गागर
दुनिया के पनघट पर फूटी, चेतन मन को और खल उठी।।
युगों-युगों से अधप्यासी ही चली आ रही जीवन आशा।
अपने मनपसंद की गढ़ ली तूने धर्मों की परिभाषा।।
भौतिकता से ऐसा भ्रमित हुआ कि हावी हुई जिन्दगी
धर्म ग्रन्थ पढ़ डाले, लेकिन समझा नहीं स्वयं की भाषा।।
मायावी मनवा में खोई स्वाति बूँद वह
जिसे ढूँढ नहीं सकी अर्चना,
तीरथ और शिवालों से लाचार चल उठी।।

- कैलाशचन्द मड़वैया, बानपुर

3.
देव-शास्त्र-गुरु प्राप्ति की सार्थकता...

कित निगोद कित नारकी, कित तिर्यंच अजान।
आज धन्य मानुष भयो, पायो जिनवर थान।।

उक्त पंक्तियाँ बोलते हुए भूतकालीन निगोदादि अवस्थाओं से निकलकर मनुष्य बनने की दुर्लभता तो परिलक्षित होती ही है, पर उस दुर्लभता में भी परम सौभाग्य हमें जिनवर-थान/देव-शास्त्र-गुरु की प्राप्ति होना है। इस संबंध में यत्र-तत्र कहा भी गया है। यथा - ''मैं महापुण्य उदय से जिनधर्म पा गया।'' ''अति पुण्य उदय मम आया प्रभु तुम्हरा दर्शन पाया'' इत्यादि।

पूर्व की पर्यायों में हमें देव-शास्त्र-गुरु प्राप्त नहीं हुए थे और अब परम सौभाग्य से प्राप्त हुए हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि इस उपलब्धि से हमें इस जीवन में लाभ क्या हुआ है?

भूतकालीन पर्यायें चाहे निगोद की हों या संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच की या जैन कुल रहित मनुष्य पर्याय इन पर्यायों में जब हमें जिनवर की उपलब्धि नहीं हुई थी; तब क्या? कैसा? अनुभव रहा होगा कहा नहीं जा सकता; पर इस मनुष्य भव में भी किसी के साथ ऐसा हुआ होगा कि जीवन के 25 वर्ष तक देव-शास्त्र-गुरु (मंदिर) का समागम प्राप्त नहीं हुआ और फिर सद्भाग्य से हो गया। किसी को बीच में 2-4 वर्ष के लिए विदेश अथवा ऐसे क्षेत्र में रहने का अवसर बन गया होगा जहाँ मन्दिर नहीं था। किसी को ऐसा भी हो सकता है कि व्यापारादि कार्यों से 2-4 दिन दर्शन-पूजन की उपलब्धि नहीं होती होगी। उक्त परिस्थितियों में जब दर्शन नहीं मिलते हैं तब और जब दर्शन मिलते हैं तब; कैसा अनुभव होता है?

सभी का एक-सा ही उत्तर हो सकता है कि ''जब भी दर्शन नहीं मिले या नहीं मिलते हैं वह दिन/समय बड़ा भारी लगता है, दिन भर कुछ

कमी सी लगती रहती है। बिना मंदिर के भोजन किया तो था या कर तो लेते हैं पर अंदर ही अंदर लगता है कि अरे! कैसा व्यापार या नौकरी है कि देखो जैन होकर भी बिना मंदिर के भोजन करना पड़ रहा है। जब व्यापारिक यात्रा से लौटकर आते हैं, दर्शन-पूजन करते हैं और फिर भोजन करते हैं या व्यापार/नौकरी हेतु जाते हैं तब मन को कुछ शान्ति मिलती है। हम तो ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमें एक दिन भी बिना दर्शन भोजन/पानी न लेना पड़े; व्यापारादि कार्य न करना पड़ें।''

ये भावनायें अंदर से भगवद्भक्ति-श्रद्धा में डूबी परिलक्षित होती हैं। उक्त भावनायें सर्व साधारण की हैं और सभी के द्वारा सर्वत्र प्रशंसनीय भी हैं।

पर यहाँ विचारणीय यह है कि क्या हमें देव-शास्त्र-गुरु का अमूल्य समागम, जिसे हमने महापुण्योदय/अति पुण्योदय से प्राप्त समागम कहा है; क्या वह मात्र निराकुलतापूर्वक भोजन/व्यापार/नौकरी करने की अनुमति माँगने मात्र का समागम है? क्या हम दिन भर के 1440 मिनटों में से मात्र 10 मिनट या 30 मिनट मंदिर/स्वाध्याय भवन में देकर, कुछ अर्घ्यावली बोलकर या शास्त्र की कुछ पंक्तियाँ पढ़/सुन/सुना कर, शेष 1400 मिनटों में पाप का (अशुभ भावों) व्यापार करने में जो दोष/अपराध करते हैं, उनसे मुक्ति की या उन पापों को करने की अनुमति चाहते हैं?

जब हम मंदिर नहीं जाते तो दिन भर लगता रहता है कि मन्दिर नहीं गए, स्वाध्याय नहीं किया, पर जब मंदिर चले गये तो 23 घण्टे मंदिर/स्वाध्याय की याद भी नहीं आती। क्या इसीलिए हमें निगोदादि अवस्थाओं को पार कर जिनधर्म, जिनमंदिर, स्वाध्याय भवन, या देव-शास्त्र-गुरु का समागम प्राप्त हुआ है?

नहीं! हमें यह सब समागम इसलिए प्राप्त हुआ है, कि जो कार्य हमने आज तक नहीं किया, वह कार्य कर सकें; जिस कार्य की सिद्धि धन/पद/प्रतिष्ठा/परिवार द्वारा नहीं; मात्र देव-शास्त्र-गुरु के समागम से ही हो सकती है। वह कार्य क्या है? वह कार्य है अनादिकाल से चली आ रही

आकुलता को मिटाने का, राग रूपी कुटेव/खोटी आदत को वीतरागी के पास आकर समाप्त करने का; जिनदर्शन कर निजदर्शन करने का; अनादिकालीन संसार परिभ्रमण को समाप्त करने का; क्या यह कार्य हम इनके समागम में कर रहे हैं या करना चाहते हैं? यदि नहीं तो इनकी प्राप्ति की सार्थकता कहाँ हुई?

जिनदर्शन तो निजदर्शन हेतु किये जाते हैं। जिनदेव, निजदेव का आलम्बन लेकर जिनदेव बने हैं, वही कार्य करने की वह हमें प्रेरणा देते हैं। गुरु, पूर्ण स्वतन्त्रता-स्वाधीनता का उद्घोष करते हुए परावलम्बी, परोन्मुखी वृत्ति को छुड़ाकर, स्वोन्मुखी वृत्ति, असंयमित/अनियमित जीवन छोड़कर संयमित/नियमित जीवन जीने का उपदेश देते हैं। शास्त्र तो प्रतिक्षण निज शुद्धात्मा का ही स्वरूप प्रतिपादन व गुणगान कर रहे हैं। ''वस्तुतः देव-शास्त्र-गुरु शब्दों का वाच्य शुद्धात्मा लगने लग जाए।'' जिनदर्शन कर जिनसम निजस्वरूप लक्ष्य में आवे, शास्त्र पढ़कर शुद्धात्मा का ज्ञान हो, शुद्धात्मा का श्रद्धान हो तो ही इनकी प्राप्ति की सार्थकता है, अन्यथा परोन्मुखी वृत्तिपूर्वक तो ''भव-भव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।'' इत्यादि भव-भव में किये गये कार्यों का इतिहास पुराना है और यह भव भी उसी पुराने इतिहास में शामिल हो जायेगा; पर यदि हम आत्महित के लक्ष्यपूर्वक देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझकर आत्मस्वरूप समझें; तो हम नया उज्ज्वल इतिहास भी बना सकते हैं। **अक्टूबर 2008**

❒❒❒

जो जिनदेव की सेव करै जग, तो जीव देव सो आप निहारै।
जो शिवलोक बसै परमातम, ता सम आतम शुद्ध विचारै।।
आप में आप लखै अपनो पद, पाप रु पुण्य दुहुँ निरवारै।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इह भाँति क्रिया करतारै।।
- द्यानत विलास

4.

आध्यात्मिक पर्वों का बदलता/बिगड़ता स्वरूप

धार्मिक/आध्यात्मिक पर्व आत्मा की समझ/शान्ति/साधना हेतु होते हैं, जो कि संयम व सादगीपूर्वक अहिंसा/वीतरागता/आत्मशान्ति को मुख्य रखते हुए मनाये जाते रहे हैं एवं मनाये जाने चाहिए।

भारतीय संस्कृति में अनेकों पर्व मनाये जाते हैं पर श्रमण संस्कृति में उन्हीं पर्वो को स्थान दिया गया है जो राग-द्वेष पोषक/वर्धक न होकर वीतरागता एवं अहिंसा के प्रकाशक हैं जो आत्मदर्शन करने एवं विषय-कषायों से बचने के अवसर प्रदान करते हैं, जो हमारे जीवन में पवित्रता प्राप्त करने व अपवित्रता समाप्त करने या कम करने का मंगलमय प्रसंग उपस्थित करते हैं।

परन्तु जिनवाणी के अनभ्यास, सम्प्रदायों में विभक्त होते समाज और विषय-भोगों व धन-वैभव की रुचि ने इन पर्वो का मूल स्वरूप ही बदल दिया है। साथ ही आधुनिक युग में टी.व्ही. के आविष्कार ने एक ओर जहाँ समस्त संस्कृतियों/पर्वो का प्रचार-प्रसार किया वहीं दूसरी ओर उसके बढ़ते प्रभाव एवं धार्मिक रुचि के अभाव ने संस्कृतियों को बदला ही नहीं विकृत भी किया है। एक ओर जहाँ हमारा खान-पान-रहन-सहन-बोल-चाल बदला व बिगड़ा है वहीं परम आध्यात्मिक पर्व जो कि वीतरागता/संयम/आत्मसाधना के मंगलमय दिवस थे; वह भी तीव्रगति से अपनी मूल अवधारणाओं को छोड़कर, दर्शन से प्रदर्शन और वीतरागता से राग-रंग की ओर गतिमान हैं।

आज किसी सामान्य गृहस्थ या युवा वर्ग से पूछा जाये कि धन्यतेरस या दीपावली पर्व क्यों और कैसे मनाये जाते हैं? तो उसका उत्तर होगा- 'धन (धन्य) तेरस को नये-नये बर्तन/आभूषण खरीदते हैं; और दीपावली तो बहुत/सबसे बढ़िया पर्व है, साल भर की सफाई हो जाती है, घर-दुकान

जहाँ भी देखो, सफाई का काम चलता है। पूरे मकान/दुकान की रंगाई-पुताई होती है। दीपावली के दिन विद्युत बल्ब लगाते हैं, दीपक जलाते हैं और हम सुबह मंदिर में लाडू चढ़ाते हैं। शायद इस दिन भगवान महावीर का 'निर्माण' हुआ था। शाम को दुकान पर लक्ष्मीजी की पूजन भी करते हैं।'

ये उत्तर हैं आज के एक गृहस्थ या युवा के; उसे पता नहीं कि धन्य तेरस है या धन तेरस है। यह धन-संग्रह का पर्व है या उस शुभ दिन को स्मरण कराने का, उस घड़ी व दिवस को धन्य कहने का, जिस दिन भगवान महावीर स्वामी की अंतिम दिव्यध्वनि श्रवण करने का सौभाग्य भरत क्षेत्र के सौभाग्यशाली भव्यजनों को प्राप्त हुआ था। इस वणिक् वृत्ति रखने वाले समाज ने धन्य तेरस को धन तेरस के रूप में परिवर्तित कर दिया है।

कार्तिक कृष्ण अमावस्या को भगवान महावीर स्वामी ने अघातिया कर्मों की व उनके ही शिष्य गौतम गणधर ने राग-द्वेष का अभाव कर घातिया कर्मों की सफाई की थी। हम उस पर्व को घर व दुकान की सफाई करके मना रहे हैं; उन्होंने कर्मों को फोड़कर परिपूर्ण वीतरागता/अहिंसा प्राप्त की थी और हम पटाखे फोड़कर हजारों जीवों की हिंसा करके उन पर्वों को मनाने में लगे हैं। गौतम गणधर ने अल्पज्ञान का अभाव करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया/केवलज्ञान का प्रकाश किया और हम हजारों रुपये के विद्युत बल्ब जलाकर या दीपक जलाकर धन का दुरुपयोग करते हुए अग्निकाय व त्रसकाय के जीवों की हिंसा करते हुए इस पर्व को मना रहे हैं।

भगवान महावीर के अनंत गुण अखण्ड हो गये, अनंत सुखी हो गये और हम केवल कुछ लड्डुओं को चढ़ाकर (अनेक बड़े तीर्थ-स्थानों पर तो भीड़ में फेंककर) उनका निर्वाण कल्याणक मना रहे हैं; जिसे कुछ लोग निर्माण कहकर संबोधित कर रहे हैं।

पूर्ण वीतरागी, अपरिग्रही, भगवान के निर्वाण दिवस पर धन (परिग्रह) की पूजा, पूर्ण अहिंसक व अहिंसा धर्म के प्रबल प्रचारक भगवान के निर्वाण दिवस पर घनघोर हिंसा, केवलज्ञान रूपी प्रकाश पर्व के अवसर पर

सम्यग्ज्ञान से कोसों दूर, मात्र दीपकों का प्रकाश; क्या हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर सकेगा?

इसी तरह यदि दशलक्षण पर्व के बारे में चर्चा की जाये तो सर्वप्रथम तो हमने इसका नाम ही बदल कर पर्यूषण कर दिया है; और मनाने के तरीके देखे जायें तो कॉम्पिटीशन मचा हुआ है, जब हिन्दू समाज गणेशोत्सव पर धूमधाम कर सकता है; तो हम भी तो किसी से कम नहीं। हो-हल्ला जिससे जितना बने, कर रहा है, बड़े ही (अंध) श्रद्धाभाव से। तान तोड़, कान फोड़ संगीत चौराहों पर बजाकर मोक्ष/शान्ति की राह पाना चाह रहे हैं; वश चले तो मोक्ष गये भगवान को यहीं बुलाने का पूरा इरादा है; ताकि दुकान भी बन्द न हो और भगवत्-दर्शन भी हो जायें। अरे! जिसका आरम्भ ही स्व-पर की अशान्ति से है, उसका अन्त शान्तिमय कैसे होगा?

आज संयम/साधना/आराधना के पर्व सांस्कृतिक प्रतियोगिताओं व पुरस्कार प्राप्त करने के पर्व होते जा रहे हैं। संयम के पर्व असंयम और वीतरागता के पर्व घनघोर रागपोषण पूर्वक मनाये जा रहे हैं।

यह है हमारे पर्वों का बदलता/बिगड़ता स्वरूप। क्या इसी तरह श्रमण संस्कृति के वीतरागी पर्वों का आयोजन किया जाता रहेगा? क्या हम प्रदर्शन में दर्शन और आयोजन की भव्यता में प्रयोजन को ध्वंस करते रहेंगे।

सोचिए.. हम कहाँ?..और किधर...जा रहे हैं?

भगवान का निर्वाण दिवस एवं गौतम गणधर का केवलज्ञान दिवस तो उन जैसा बनने की भावना, उनकी वाणी के अध्ययन व प्रचार-प्रसार की भावना व इसके लिए किये गये ईमानदार प्रयासों द्वारा ही मनाया जा सकता है/मनाया जाना चाहिए। राग-द्वेष, विषय-कषायों की सफाई व कर्मों के पटाखे फोड़कर हम दीवाली मनाने की भावना, जिस दीवाली पर कर सकें वही सच्ची दीवाली मनाना होगा। इसी तरह यदि हम मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर, असंयम से संयम की ओर, दुराचार से सदाचार की ओर कदम बढ़ा सके, तभी हमारा दशलक्षण पर्व मनाना सार्थक होगा। **नवम्बर 2005**

5.

महावीर के तत्त्वज्ञान व संस्कारों को जन–जन तक पहुँचाओ....

मिथ्यात्व रूपी अंधकार को नष्ट करने हेतु, भगवान महावीर स्वामी रूपी सूर्य का उदय हुआ, जिनके कैवल्य प्रकाश में मुक्तिमार्ग प्रकाशित होने लगा। जिनवाणी गंगा प्रवाहित हुई, जिसमें शाश्वत तत्त्वज्ञान व अहिंसक जीवन शैली का शीतल नीर चतुर्दिक् प्रसरित हुआ। संतप्त प्राणियों को शान्ति की प्राप्ति हुई। सूर्य के अस्ताचल की ओर प्रयाण के पश्चात् सुदीर्घ व यशस्वी आचार्य/विद्वत् परम्परा द्वारा श्रुतलेखन किया गया; फलस्वरूप भगवान महावीर का दिगम्बर (यथार्थ) तत्त्वज्ञान व अहिंसक जीवन चर्या, स्याद्वाद शैली में आज तक निरन्तर प्रवर्तमान हो रहे हैं।

काल–दोष से आज हम भौतिकता की होड़ में अपनी नई पीढ़ी को तत्त्वज्ञान व अहिंसक जीवन चर्या (श्रावकाचार) से दूर करते जा रहे हैं। हमारी संस्कृति विकृत होती जा रही है। गाँधीजी ने कहा है – 'जिस देश/समाज की संस्कृति नष्ट हो जाती है, वह देश/समाज भी नष्ट हो जाता है।' इस तरह हम संस्कृति को विकृत कर अपनी समाज/परंपराओं का स्वयं ही नाश करने में लगे हुए हैं।

हम धन कमाने/कर चुकाने, वैभव, पद, प्रतिष्ठा प्राप्त करने में अन्य समाजों से शायद अग्रणी हो सकते हैं, परन्तु अपनी संस्कृति संरक्षण में उदासीन हो रहे हैं, पिछड़ रहे हैं। हमारी यह उदासीनता समाज व इतिहास के लिए घातक हो सकती है। हम अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए या पढ़ा–लिखा कर अमेरिका, कनाडा, लंदन भेजने में सक्षम हैं; पर मंदिर भेज पाने में अपने आपको असहाय देख रहे हैं। बच्चों के लिए चायनीज एवं फास्ट–फूड खिलाने, पिकनिक पर घुमाने, होटलों में पार्टियाँ देने में उत्साहित हैं; पर उन्हें दिन में भोजन करने हेतु प्रेरित करने में, अपने आपको कमजोर

अनुभव कर रहे हैं या ऐसा करना हमें पिछड़े होने का अनुभव करा रहा है।

हर धर्म समाज की पहचान उसकी संस्कृति (खान–पान,रहन–सहन, बोलचाल) से ही होती है। पहले लोग प्रात:काल मंदिर जाते या सायंकाल सूर्योदय से पूर्व भोजन करते/कराते, यात्रा में होने पर जब भी जल लेने जाते, तब साथ में छन्ना (पानी छानने का कपड़ा) भी ले जाते या आपसी चर्चा में भी हिंसक शब्दावली का भी प्रयोग नहीं होता, जिनका व्यापार भी अहिंसा व ईमानदारी पर आधारित होता; लोग समझ जाते निश्चित ही यह 'जैनसाहब' होंगे; क्योंकि हमारी संस्कृति ही अहिंसा, सदाचार, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा पर आधारित है।

पर आज हालात बदल/बिगड़ चुके हैं; बोतलों के पानी ने, रात्रि की पार्टियों ने, होटलों के भोजन ने, कैसे भी पैसा प्राप्ति की भावना ने; सभी को एक ही पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया है। बैग में से छन्ना व घर का भोजन गायब हो चुका है, सबके हाथ में है बस बोतल। हमें पता नहीं है कि कब हमारे बच्चों की इस बोतल की सामग्री बदल जाए और हम कुछ समझ ही न पायें। भ्रष्टाचार हमारी समाज में भी शिष्टाचार बनता जा रहा है। अहिंसक व सादगीपूर्ण जीवनशैली, इतिहास बनती जा रही है।

यह भी परिस्थितिजन्य सत्य है कि बालकों को उच्च शिक्षा देना आज के वातावरण के अनुसार देश–विदेश जाना व कार्य करना आवश्यक–सा प्रतीत होता है; पर क्या जिस प्रकार सरदार अपनी पगड़ी लगाये हुए, ईसाई क्रॉस पहने हुए व मुस्लिम नमाज पढ़ते हुए भी शहरों/यात्राओं/विदेशों में रह सकते हैं तो क्या हम अपनी पीढ़ी को इतना संतुलित, वैज्ञानिक, अहिंसक तत्त्वज्ञान व श्रावकाचार पालन की शिक्षा नहीं दे सकते! अवश्य दे सकते हैं। इसके लिए व्यक्तिगत इच्छाशक्ति व समाज द्वारा वातावरण का उपलब्ध कराया जाना अत्यावश्यक है। वीतरागी तत्त्वज्ञान व श्रावकाचार को युवा वर्ग/भावी पीढ़ी तक पहुँचाने हेतु कुछ प्रयास इस तरह किये जा सकते हैं –

1. जैन तत्त्वज्ञान पाने, पचाने व प्रचारित करने हेतु बालक-बालिकाओं हेतु शास्त्री की उपाधि सर्वाधिक उपयोगी है; क्योंकि इन कक्षाओं में जैनशास्त्रों का अध्ययन गहराई से किये जाने के अवसर सर्वाधिक हैं एवं रोजगार भी इस प्रकार का मिल सकता है; जिसमें हम शान्तिपूर्ण आजीविका के साथ-साथ तत्त्वविचार/प्रचार हेतु अधिक समय दे सकते हैं। अत: समाज को ऐसे महाविद्यालयों को संचालित करना या संचालित महाविद्यालयों को सहयोग करना चाहिए व अपनी संतान को अध्ययन हेतु प्रेरित करना चाहिए।

2. जो बालक/बालिकायें या अभिभावक उक्त पाठ्यक्रमानुसार अध्ययन करने/कराने हेतु रुचिवन्त न हों, उनके लिए लौकिक शिक्षा की मुख्यता के साथ जैन तत्त्वज्ञान व श्रावकाचार के संस्कार देने वाले विद्यालयों/छात्रावासों का संचालन किया जाना चाहिए। अभी भी बहुत से संस्थान कार्यरत हैं, परन्तु समाज के अनुपात में बहुत कम हैं। तीर्थक्षेत्रों या बड़े शहरों में ऐसे छात्रावास और खोले जाने चाहिए एवं अभिभावकों को हर हालत में बालक-बालिकाओं को ऐसे संस्थानों में प्रवेश दिलाना चाहिए।

3. समाज के बहुत से समृद्ध परिवार इन संस्थानों में सहयोग तो करते हैं, पर अपनी संतान को उच्चस्तरीय छात्रावासों में रखकर अध्ययन कराना चाहते हैं; ऐसे उच्चवर्गीय समाज को भी चाहिए कि इस तरह के उच्च गुणवत्तावाले विद्यालय/छात्रावास खोलने में अपने धन/पद/परिश्रम का उपयोग करें, जिनमें भले ही शुल्क पूरा लिया जावे, उच्च गुणवत्ता व सुविधाओं की व्यवस्था के साथ उन्हें संचालित किया जावे; परन्तु जिनमंदिर, दिन में व शुद्ध (बालकों की अपेक्षा) भोजन एवं वीतरागी तत्त्वज्ञान (देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, वीतरागता-सर्वज्ञता का स्वरूप, जिनेन्द्र कथित वस्तु व्यवस्था व कारण-कार्य रहस्य जैसे विषय) के संस्कार अवश्य दिये जावें। (इस दिशा में मंगलायतन विश्वविद्यालय आदि के द्वारा प्रयास किया जा रहा है।)

4. अनेक बालक/बालिकायें बड़े शहरों में अध्ययन करने हेतु आते हैं, परन्तु वहाँ जैन भोजन की व्यवस्था न होने से वे रात्रि भोजन, जमीकन्द का सेवन करने लगते हैं और धीरे-धीरे श्रावकाचार से दूर होते चले जाते हैं। अत: चौथा प्रयास यह भी किया जा सकता है कि हर बड़े शहर में जिस भी मंदिर के पास धन व जगह हो (ज्यादातर मंदिरों के पास लाखों रुपयों का फण्ड पड़ा हुआ है) वे सीमित साधन व संख्या वाला सशुल्क छात्रावास/भोजनालय चलावें, जिससे उन छात्रों को जैनाचार के पालन योग्य भोजनादि की व्यवस्था हो सके।

5. जिनसे यह भी संभव न हो, वे समाज से आग्रह करके स्थानीय स्तर पर दैनिक/साप्ताहिक पाठशाला का संचालन करें व घर में श्रावकाचार के अनुसार खान-पान हो, जिससे घर पर रहते हुए भी वह जैन सिद्धान्तों व जैनाचार से परिचित हो सके।

6. पहली पाठशाला माँ ही कहलाती है। यदि माँ संस्कारित है, जैन तत्त्वज्ञान व जैनाचार को सही समझती है तथा समयानुकूल तर्कसंगत ढंग से उसे बालकों तक पहुँचाने में सक्षम है, तब तो बालकों तक संस्कार आसानी से पहुँचाये जा सकते हैं। इस ओर प्रत्येक महिला को प्रयास करना चाहिए।

कुछ तो करना ही होगा, करना ही चाहिए। किसी को तो आगे आना ही होगा, सबको मिलकर वे सब व्यवस्थायें करनी ही चाहिए, जिससे कि कोई भी बालक व्यवस्था की कमी के कारण जैनत्व से दूर न होने पावे।

मेरी इच्छा है, समाज का प्रत्येक बालक या तो घर में या छात्रावास में रहकर जैनत्व के संस्कारों पूर्वक अध्ययन करे, आगे बढ़े व अपनी संस्कृति व तत्त्वज्ञान को पाकर जीवन में गौरवपूर्वक कह सके कि मैं जैन हूँ। मेरे जीवन में सदाचार, अहिंसा है, मेरी वाणी में स्याद्वाद है। तभी धनिकों का धन पाना, विद्वानों/बुद्धिमानों का विद्या/बुद्धि पाना सार्थक होगा और तभी सार्थक होगा - हमारा महावीर जयन्ती मनाना।

यदि आप किसी भी रूप में हमसे सहमत हैं तो अपनी बात अन्य तक पहुचायें, सुझाव दें, सहयोग दें, कार्यकर्ताओं का उत्साहवर्धन करें, बालकों को प्रेरित करें, जैनत्व के संस्कारों से संस्कारित बालकों को सम्मानित करें, उन्हें सुविधायें प्रदान करें। अभिप्राय यह है कि आप जो भी कर सकते हैं, वीतरागी तत्त्वज्ञान व श्रावकाचार को प्रचारित करने में अवश्य करें। नहीं तो भविष्य कैसा होगा, कल्पना ही कर सकते हैं!

अप्रैल 2013

❑❑❑

संस्कार लाओगे कहाँ से?

एक नन्हा बालक कहे समाज से...
जब मुझे दादा-दादी, नाना-नानी की वह गोद और कहानियाँ नहीं दोगे
तो मुझमें संस्कार लाओगे कहाँ से?
जब तुम व्यस्त हो जाओगे, मुझे टी.वी. के सन्मुख जोड़कर,
या आया की सूनी गोद में छोड़कर
तो मुझमें संस्कार लाओगे कहाँ से?
जब तुम मुझे स्कूल, ट्यूशन, कॉम्पिटीशन के सुपुर्द कर,
मन्दिर का अवसर ही न दोगे
तो मुझमें संस्कार लाओगे कहाँ से?
जब तुम मेरी मनमानी आदतों को विराम ही न दोगे,
तो बताओ मुझे गलतियों का एहसास होगा कहाँ से?
जब तुमने जीवन के प्रारम्भ में ही ध्यान नहीं दिया तो बताओ, अब तुम...
मुझमें संस्कार लाओगे कहाँ से?
जब मैं बड़ा हुआ, मुझे एहसास हुआ तो दुःखी मन से पूछता हूँ खुद से...
कि **अब मैं संस्कार पाऊँगा कहाँ से।**
जब मैं खुद ही संस्कारित नहीं तो अपने ~f m| H$m gñH$ma XJm H$hm g?

– डॉ. विमला सुरेश जैन, नागपुर

6. मतभेद हो, पर मनभेद न हो...

सुभाषितकार कहते हैं – 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' अर्थात् हर मनुष्य (मस्तिष्क) की अलग-अलग मति/सोच होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव भी नियमसार ग्रन्थ में कहते हैं – ''णाणा जीवा णाणा कम्मा... हैं जीव नाना कर्म नाना, लब्धि नाना विध कही।'' जितने लोग होंगे, उतने प्रकार के उनके विचार होंगे, यह एक मानवीय सत्य है, वहीं यह भी सत्य है कि सत्य/सिद्धान्त सदैव एक ही होता है। अत: यह समझना आवश्यक है कि परमार्थ सिद्धान्त तो एक ही है, पर उस सम्बन्ध में लोगों के अपने-अपने विचार/मत हो सकते हैं। अपने-अपने विचारों को हम सामान्यत: अपने सिद्धान्त भी कह देते हैं, पर वास्तव में वह अपनी सोच मात्र है।

अपने मत से भिन्न मत रखने वाला हमारा विरोधी या शत्रु नहीं है, परन्तु दुर्भाग्य यह है कि हम अपने से भिन्न सोच/मत रखने वाले को अपना विरोधी/शत्रु मान लेते हैं, जिससे मनभेद पैदा हो जाता है। सही या गलत अपनी सोच रखना इस बात का सूचक है कि हम हर प्रसंग में जागरूक हैं और अपनी बुद्धि के अनुसार उसके संबंध में सोचते हैं। सोचने/विचारने/चर्चा करनेवाला एक न एक दिन अवश्य ही सत्य सिद्धान्त को समझ ही लेगा। (हठाग्रही/दुराग्रही नहीं)

मतभेद जागरुकता का प्रतीक है, तो मनभेद कषाय का सूचक है। जब भी व्यक्ति अन्य किसी की विचारधारा को मात्र अपनी विचारधारा के अनुसार बनाना/बदलना चाहता है और जब वह नहीं बदलता तो फिर मनभिन्नता और खिन्नता पैदा हो जाती है। आज समाज में मत भिन्नतायें, मनभिन्नताओं का कारण बनती जा रही हैं। सभी अपने मत/प्रवृत्ति/क्रिया/सोच को सही समझते हैं; अन्य के मत को गलत। हो भी सकता है कि उसकी सोच गलत हो, पर सही-गलत का निर्णय कौन करे? हर व्यक्ति

स्वयं को ही निर्णायक समझता है और अपनी मान्यता को ही शाश्वत सत्य।

कोई कहता है, खड़े होकर पूजन करना ही सही है; कोई कहता है बैठकर करना सही है। सबके अपने-अपने तर्क हैं, अपने -अपने आगम। अब इस मुद्दे पर क्लेश करना उचित है या हमें जो करना हो, करें व अन्य को अपने अनुसार करने देवें; परन्तु अन्य को अपने मतानुसार पूजन न करने पर अज्ञानी समझना व घोषित करना या उनसे द्वेषभाव रखना कौन-सी बुद्धिमानी है?

कोई कहता है 'अ' को गुरु माननेवाला अज्ञानी है तो कोई कहता है, 'ब' को गुरु माने वह अनादि-अनंत मिथ्यादृष्टि है। कोई कह रहा है, अमुक शास्त्र हमें नहीं पढ़ना चाहिए तो कोई कह रहा है कि अमुक शास्त्र पढ़े बिना सम्यक्त्व नहीं होगा; साथ ही इन कपोल-कल्पित मान्यताओं को न माननेवालों को अपना विरोधी घोषित किया जा रहा है।

किसे क्या पढ़ना, किससे पढ़ना यह निर्णय करने का अधिकार क्या पढ़नेवाले को ही नहीं होना चाहिए? हम इस बात से क्यों नहीं खुश हो पाते कि भले ही वे हमारे मनचाहे ग्रन्थ न पढ़ रहे हों, पर पढ़ तो जिनवाणी ही रहे हैं, इस पंचम काल में शास्त्र पढ़नेवाले मिल तो रहे हैं। क्या यह एक आश्चर्यकारी, परन्तु प्रशंसनीय तथ्य नहीं है!

कोई गहन तत्त्वाभ्यासी कह रहे हैं - 'पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल है, कोई कह रहा है कि जो पर्याय को दृष्टि के विषय में शामिल करे, वह वज्र मिथ्यादृष्टि है।' पर्याय के फेर में अपनी वर्तमान पर्याय बिगाड़ने में उलझे हुए हैं। (इसी तरह के अन्य विषय) एक-दूसरे के प्रवचन नहीं सुन पाते, एक-दूसरे से वात्सल्यपूर्वक चर्चा नहीं कर पाते। क्या यह एक सुखद दृश्य नहीं माना जा सकता कि इस भौतिकवादी युग में द्रव्य-पर्याय की चर्चा करनेवाले हैं। लोग स्वाध्याय कर रहे हैं, यह क्या साधर्मियों में प्रसन्नता का विषय नहीं होना चाहिए; परन्तु नहीं, हम मानो किसी न किसी प्रसंग पर लड़ने के लिए ही आये हों, इस तरह का वातावरण बन रहा है। (क्या

विडम्बना है कि एक वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के उपासक होकर भी हम किसी एक मतभिन्नता के कारण कभी भी/कहीं भी साथ बैठने को तैयार नहीं हो पाते) कोई किसी एक व्यक्ति को सर्वोपरि न मानने पर मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी/अभव्य घोषित करके साथ बैठने में एतराज कर रहा है, तो कोई उन सूक्ष्म चर्चाओं में किंचित् मत-भिन्नता होने पर मन-भिन्नता लिये बैठे हैं, एक-दूसरे के साथ बैठने व नाम लेने में भी संकोच हो रहा है। क्या विडम्बना है कि **अज्ञानी साथ-साथ हैं, पर ज्ञानी (शास्त्र ज्ञानी) आमने-सामने हैं;** पर हाथ और हृदय मिलाने के लिए नहीं, अपितु एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए।

साधर्मी वात्सल्य के अभाव में प्रभावना कहाँ से होगी? यदि हमें किसी का दोष दिखता भी है तो वह भी वात्सल्यपूर्वक ही दूर किया जा सकता है। अपने बच्चे को काँटा लगा हो तो कितने वात्सल्यपूर्वक निकालते हैं। काँटा भी चाँटा मारकर नहीं निकाला जा सकता तो अन्य किसी के मत को मन-भिन्नता से नहीं, अपितु सहानुभूति व वात्सल्यपूर्वक ही बदला जा सकता है। किसी को समझाना है तो पहले उसे व उसकी सुनना/समझना भी चाहिए।

यह भी हो सकता है, वह हमारे मत से सहमत न हो, आप भी उसके मत से सहमत न हों तो भी क्या हम उसके द्वारा किये जा रहे सही काम की प्रशंसा नहीं कर सकते? क्या हम उसकी जिनधर्म की रुचि, जिनवाणी पढ़ने-पढ़ाने, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आदरभाव की अनुमोदना नहीं कर सकते? हम भले ही दूसरों के मतानुसार अपना मत न बनावें, पर अपने मतानुसार न चलने वालों को अपना विरोधी/शत्रु भी न माने। हम समझें कि इससे हमारी मत-भिन्नता है, मन-भिन्नता नहीं। और यही अन्य को भी समझावें तो ही सामाजिक दृष्टि से हम संगठित रह सकेंगे; जिसकी आज बहुत आवश्यकता है। परस्पर में मतभेद के मुद्दे कम हैं और सहमति के अधिक क्यों न हम उन्हीं मुद्दों पर पारस्परिक स्नेहभाव फैलायें; दूसरों के

द्वारा किये जा रहे अच्छे कार्यों की अनुमोदना करें। वह किसको, किसकी और क्या मानता है; वह गलत ही है और आप ही सही हैं, इस बात को छोड़कर हम वीतरागी देव-शास्त्र गुरु के उपासक हैं। अत: हम पारस्परिक वात्सल्य के पात्र हैं, साधर्मी हैं। क्या ऐसा नहीं सोचा जा सकता? और सत्यासत्य के निर्णायक हम न बन कर आप्त और आगम पर छोड़ दें तो शायद मत-भिन्नता, मन-भिन्नता का कारण न बन सके।

कवि रवीन्द्र जैन की इस पंक्ति के साथ अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा -

हम भेद मतों के समझें पर, आपस में कोई मत-भेद न हो...
हम यही कामना करते हैं। **अक्टूबर 2013**

❒❒❒

अनहोनी क्या कभी भी होती है? होनी भी तो कभी न टलती है।
काललब्धि जिसकी आ जाती है; बात समझ में तब ही आती है।
किसको समझाना है? किसको जगाना है?
पहले तू जग जा खुद ही, क्योंकि आत्मा अनंत गुणों का धनी।
समझाने से समझ नहीं आता, जब समझे तब स्वयं समझ जाता।
दिव्यध्वनि भी किसे जगाती है, स्वयं जागरण हो तब भाती है।
तीर्थंकर समझाया, मारीचि बौराया
माने क्यों किसकी कोई, क्योंकि आत्मा अनंत गुणों का धनी..।
साधर्मी से भी न बहस करना, और विधर्मी संग भी चुप रहना।
बुद्धू बनकर चुप रह जाओगे, बहुत विवादों से बच जाओगे।
जीवन दो दिन का है, मौका निज हित का है
आवे न अवसर यों ही, क्योंकि आत्मा अनंत गुणों का धनी।।
- पण्डित राजेन्द्रकुमार जैन, जबलपुर

7.
हे महावीर! यदि इतना भी सम्भव हो जाये

कुछ दिनों बाद हम अत्यन्त हर्ष के साथ अन्तिम तीर्थनायक भगवान महावीर स्वामी की जन्म जयन्ती मनायेंगे। इस पावन प्रसंग पर समाज का महावीर-वाणी के प्रति बढ़ता उपेक्षा भाव, समाज में बढ़ते मनोमालिन्य व शिथिलाचार को देखकर मुझे लगता है कि हम क्या कुछ शोभायात्रायें निकालने, छुट्टी का आनन्द लेने, कुछ सभायें करने और उन सभाओं में कुछ प्रतिष्ठित लोगों को प्रतिष्ठित करने एवं उनके साथ अपनी भी प्रतिष्ठा बढ़ाने के साथ-साथ कुछ फोटो निकलवाकर, समाचार पत्रों में बड़े-बड़े समाचार छपवाकर अगले वर्ष का इन्तजार करने हेतु महावीर/महापुरुषों की जयन्ती मनाते हैं या जीवन में कुछ परिवर्तन लाने, उनके सिद्धान्तों का विचार व प्रचार करने के लिए मनाते हैं?

सम्भवत: वास्तविकता यही है कि हम प्रदर्शन की दौड़ में, अल्पसंख्यक होते हुए भी बहुसंख्यकों की भाँति टी.वी., समाचार-पत्रों एवं शोभायात्राओं के माध्यम से आगे निकलने का प्रयास करते हैं; पर इस प्रदर्शन में दर्शन/विचार/आत्महित के दर्शन कहीं भी नहीं होते।

जब महावीर हुए तब न दिगम्बर-श्वेताम्बर थे, न तेरहपन्थी-बीसपन्थी। सभी स्याद्वाद की छत्रच्छाया में बैठकर जिनवाणी को सुनते, सरलता व निरभिमानपूर्वक धर्म के मार्ग पर अग्रसर होते थे; पर जिनधर्म को माननेवाले जैन शनै:-शनै: अपनी कषायों के पोषण हेतु दिगम्बर-श्वेताम्बर फिर तेरहपन्थी-बीसपन्थी आदि सम्प्रदायों में विभक्त होते गये।

नये संगठनों के नाम पर विघटन की ऐसी शृंखला चली, जो विभिन्न सम्प्रदायों/पन्थों/संघों/परिवारों में निरन्तर वृद्धिंगत हो रही है। क्या यह विघटन ही महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार है? आज हर सम्प्रदाय/संघ/

पन्थ अपने अनुवर्तियों को अन्य का साहित्य मत पढ़ो, अन्यत्र प्रवचन मत सुनो; इसकी शिक्षा/आदेश पहले दे रहा है; क्या पढ़ो/क्या करो इसका निर्देश बाद में (समय मिला तो)। सामान्य जन अपनी व्यस्तताओं, मजबूरियों में शान्ति हेतु कुछ समय निकालते हैं; पर जिस औषधि और औषधिदाता से शान्ति/नीरोगता चाहता है, पता चलता है, वह स्वयं अशान्तिदाता है। तब वह जाये तो कहाँ जाये? या फिर कूप-मण्डूक बनकर गुलाममार्गी ही बनकर रह जाये।

सभी लेखक/वक्ता कहते हैं कि हम भगवान महावीर की वाणी का प्रचार कर रहे हैं, उनकी ही बात लिख/कह रहे हैं तो फिर बिना पढ़े, बिना देखे क्या हम किसी भी शास्त्र को बहिष्कृत करने या यह मत पढ़ो/इनको मत सुनो/इनको मत मानो आदि कहने का नैतिक अधिकार रखते हैं?

हम कह सकते हैं कि हमारे शिष्य नासमझ हैं, अत: वे गलतफहमी में फँस सकते हैं। अत: ऐसा कहना/करना पड़ता है, पर क्या हम उन्हें स्याद्वाद एवं नयों का ज्ञान कराकर इस योग्य नहीं बना सकते कि वह स्वयं सत्य-असत्य, हित-अहित का निर्णय कर सकें।

हे भगवान महावीर! आपकी जयन्ती के पावन अवसर पर इतना भी सम्भव हो सके कि -

❊ हम सभी एक-दूसरे के अच्छे कार्यों की प्रसन्न मन से प्रशंसा कर सकें व परनिन्दा तथा आत्मप्रशंसा से बच सकें।

❊ जो हमें स्वीकार्य न हो, वह न स्वीकारें, पर दूसरों को स्वीकार करने में बाधक न बनें।

❊ परिवार में सभी को लौकिक शिक्षा के साथ-साथ जिन-सिद्धान्तों की भी शिक्षा दे सकें।

❊ पन्थ/व्यक्ति के प्रचार-प्रसार हेतु नहीं, हम सर्वज्ञ कथित जिनवाणी के प्रचार-प्रसार हेतु कार्य कर सकें।

❊ किसी मान्यता या पक्ष के पोषण हेतु नहीं, पर आत्महित की भावना से सरलतापूर्वक माँ जिनवाणी का अध्ययन कर सकें।

❊ हम ऐसे कृत्यों से बच सकें जो समाज/धर्म को बदनाम करने वाले हों और अन्य कोई जो धर्म या समाज को बदनाम एवं अपना नाम करने के कार्यों में लगे हैं, उनके इन कृत्यों से हम दूर रह सकें।

❊ हम दूसरों की भावनाओं की सुरक्षा हेतु अपने सिद्धान्तों/भावनाओं को भले ही न त्यागें, पर अपनी भावनाओं/मान्यताओं के पोषण हेतु दूसरे की भावनाओं/मान्यताओं का अपमान तो न करें।

हम सब भगवान महावीर को स्मरण करते हुए यदि चाहें तो आत्महित एवं धर्मप्रचार की भावना से ये सब ही क्या, बहुत कुछ कर सकते हैं एवं एक आदर्श समाज के निर्माण में सहभागी बन सकते हैं।

अप्रैल 2005

❒❒❒

वीर वाणी सदा ही जगाती रही।।

मोह की नींद में हम तो सोते रे, ज्ञान की चाँदनी गीत गाती रही।
हम न जागे अरे! एक दिन भी कभी, वीर वाणी सदा ही जगाती रही।।
जन्म की योजना, मृत्यु की योजना, पूरी करते रहे, फिर बनाते रहे।
आत्म-संगीत हमको न भाया कभी, हम विभावों की बंसी बजाते रहे।।
टूटा नहीं आवागमन का सिलसिला, उजड़ी दुनिया को फिर-फिर बसाते रहे।
तत्त्व की भावना से रहे दूर हम, खुद को भवजाल में ही फँसाते रहे।
सप्त व्यसनों की सन्ध्या न आयी कभी, राग की रागिनी प्रीत पाती रही।।
हम विषय भोग की छाँह में ही पले, और कषायों की सेजों पर सोते रहे।
चारों गतियों के चक्कर लगाये बहुत, पाप के बीज ही नित्य बोते रहे।।
पुण्य भी हमने इतने इकट्ठे किये, पाप ग्रीवक के द्वारे पर सेते रहे।
एक पल भी निजात्मा को जाना नहीं, आये अवसर बहुत उनको खोते रहे।।
आज अवसर मिला भव्य सम्यक्त्व का, जाग जाएँ तो भवरीत जाती रहे।

- राजमल पवैया

8.
श्रुतदेवेभ्यो नम:

भगवान महावीर रूपी हिमालय से प्रवाहित जिनवाणी-गंगा गौतम-मुखकुण्ड से होती हुई, परम्परा से अंगधारक मुनिराजों के मुखारविन्द द्वारा इस भरतक्षेत्र के जीवों को सुखामृत का रसास्वादन करा रही थी। काल-दोष से जब वह भवतापहारी गंगा शोषित होने लगी, तब अकारण करुणावंत परमपूज्य दिगम्बराचार्य धरसेन महाराज को यह मंगल विकल्प आया कि भविष्य के दु:खी जीवों को दु:ख से बचने का उपाय, स्वरूपभ्रष्ट जीवों को निजात्म स्वरूप की पहचान, आगम के अभाव में कौन करायेगा? मोक्षमार्ग प्रकाशक सूर्य (तीर्थंकर) तो अस्त हो ही गया है। नवीन सूर्योदय होने में अंतराल बहुत है। जब तक सूर्योदय न हो, तब तक मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने हेतु दीप प्रज्वलन करना ही चाहिए; अन्यथा मार्ग सर्वथा अवरुद्ध हो जायेगा। कौन पुरुषार्थी होगा, जो मेरे अंतस् में संचित ज्ञानप्रकाश को आगम-दीप प्रज्वलित करके प्रकट करेगा?

धरसेनाचार्य, पवित्रता व पुण्य की प्रतिमूर्ति थे, साथ ही पंचम काल के भव्यजीवों का भाग्य था कि उनके विकल्प पूर्ति हेतु भूतबलि-पुष्पदंत आचार्यद्वय का सहज ही पदार्पण हुआ एवं ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन षट्खण्डागम ग्रंथराज अवतरित हुए। चतुर्विध संघ ने हर्षोल्लास पूर्वक, आगम की अर्चना की, तभी से यह श्रुतावतार दिवस श्रुतपंचमी के रूप में मनाया जाने लगा।

यह दिवस श्रुत-लेखन की परम्परा का उद्घाटन दिवस है, क्योंकि इससे पूर्व जिनेन्द्र कथित वस्तुस्वरूप सुनकर ही समझा जाता था; पर अब लेखन, पाठन, वाचन आदि स्वाध्याय की परम्परा प्रारंभ हुई, तब से लेकर विगत 2000 वर्षों में परम पूज्य आचार्यों, मुनिराजों, विद्वानों ने विभिन्न शैलियों में; जीवों के सुप्त पुरुषार्थ को जगाने, विस्मृत आत्मस्वरूप का

स्मरण कराने, पापाचार को छुड़ाने, सदाचार/श्रावकाचार/श्रमणाचार का ज्ञान कराने, महापुरुषों के विविधतापूर्ण जीवन चरित्र का ज्ञान कराने, मातृवत् शिशु को सन्मार्ग दिखाने हेतु सहस्राधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया और आज भी अनवरत हो रहा है। नित नूतन भाषा-शैली में आगम का प्रणयन होना आवश्यक भी है। भाषा भावों की वाहक है। भाषा तात्कालिक परिवेश की होती है, क्योंकि भाषा गतिशील है, परिवर्तनीय है; जबकि सर्वज्ञ कथित वस्तुस्वरूप का भाव शाश्वत है। अत: आगम में भी परमार्थ स्वरूप बताने हेतु निश्चयनय के प्रतिपादक के रूप में व्यवहारनय का प्रयोग स्वीकार्य है।

आचार्यों ने एक कुशल चिकित्सक की भाँति रोगी के रोग की पहचान कर तदनुरूप ही उपचार बताया है। जो जीव निरन्तर पापाचार में लगे हुए हैं, उन्हें पापाचार से हटाकर शुभ भावों की सरल भूमि में लाने हेतु एवं निश्चयधर्म का सहचारी होने से शुभ भावों की उपादेयता एवं उसे धर्म कहकर आचार्यों ने उपदेश दिया है, क्योंकि शुभ भावों के आँगन में आये बिना शुद्धात्मारूपी राजप्रासाद में प्रवेश संभव नहीं है।

जो जीव आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ रहकर निश्चय धर्म का स्वरूप जाने बिना, शुभ भावों एवं बाह्य क्रियाकाण्डों में ही धर्म स्वीकार कर पुरुषार्थहीन हो रहे हैं, उन जीवों को शुभ भाव के आँगन की तप्त भूमि से उठाकर शुद्धात्मा के राजप्रासाद की शीतल भूमि में विश्रान्ति कराने हेतु उन शुभ भावों/शुभाचारों को बंध का कारण, आकुलता का कारण एवं वह धर्म नहीं है – इस रूप में उन्हीं आचार्यों ने उन्हीं शास्त्रों में प्ररूपित किया है, जहाँ उन्हें उपादेय कहा गया था।

इसी प्रकार जिनागम में आचार्यों ने शिष्यों को भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा उपदेश दिया है। जैसे – जीव के सुख-दु:ख का कारण कर्मोदय को कहा, अन्यत्र जीव स्वयं की योग्यता से सुख-दु:ख प्राप्त करता है। कहीं कर्मों के क्षय से मोक्ष प्रकट होता है; अत: कर्मक्षय का उपदेश दिया, अन्यत्र

आत्मा मुक्तस्वभावी ही है – ऐसा भी कहते हैं। कहीं जीव कर्म से बँधा है – ऐसा कहते हैं तो कहीं जीव कर्म का स्पर्श भी नहीं करता – ऐसा कहा है। कहीं आचार्य निमित्तापेक्षा अन्य को अन्य का कर्ता–भोक्ता कहते हैं, अन्यत्र आचार्य जीव को पर का कर्ता–भोक्ता नहीं, अपितु मात्र ज्ञाता है – ऐसा या उनका नहीं, मात्र अपने ज्ञान का ही ज्ञाता कहते हैं।

उक्त सभी कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु यह सब सापेक्ष कथन हैं, विरोधी नहीं। प्रथम कथन में संयोग या निमित्त का ज्ञान कराया है और दूसरे कथन में उपादान/स्वभाव का ज्ञान कराया है। जब जीव स्वयं को भूलकर दुःखी होता है, तब कर्म निमित्त होता है – ऐसा ज्ञान कराया है; पर हम अज्ञानतावश कर्म को ही सुख–दुःख का कर्ता मानकर उनके दूर करने का मिथ्या उपाय करते हैं। यदि हम स्वभाव की शक्ति का अवलोकन करें तो कर्म का स्वतः ही अभाव होता है।

हम श्रुत का सर्वांगीण अध्ययन किये बिना, विभिन्न नय विवक्षाओं को समझे बिना, एकांगी, सीमित अध्ययन के आधार पर विद्वत्ता प्रदर्शित करने हेतु किसी भी कथन का सर्वथा निषेध कर देते हैं या उपहास्य बना देते हैं – यह श्रुत की विराधना है। हम आचार्यों/वक्ताओं के मंतव्य को समझे बिना, अरे! यह तो शुभ भावों में उलझाते हैं या यह तो शुभ भावों को छुड़ाते हैं – आदि निष्कर्ष निकालते हैं; यह उस वक्ता के कथन के अभिप्राय के प्रति नासमझी तो है ही, साथ ही आचार्यों के अभिप्रायों के प्रति भी नासमझी बतलाता है।

अतः इस श्रुतपंचमी पर्व पर हम इन बातों का ध्यान रखते हुए कि–

1. इस भव में मुझे आत्महित करना ही है।

2. आत्महित का मार्ग शास्त्राभ्यास से ही मिलेगा।

3. मुझे शास्त्राभ्यास आत्महित के लिए ही करना है।

यदि हमने उक्त संकल्पपूर्वक स्वाध्याय किया, शास्त्रों को पढ़ा, सुना और नय विवक्षाओं को हृदयंगम किया तो फिर कोई भी उपदेश/ग्रन्थ/लेखक हमें दिग्भ्रमित करने वाले नहीं लगेंगे (क्योंकि वे दिग्भ्रमित करनेवाले नहीं, दिग्दर्शन करनेवाले हैं)। समय कम है, काम अधिक है। यह भव, भव बढ़ाने, भव बिगाड़ने हेतु नहीं; अपितु भव का अभाव करने के लिए मिला है।

सत्य ही कहा है –

यदि अवसर बीता तो, भव–भव पछतायेगा।
फिर काल अनंत अरे, दुःख का घन छायेगा।।
यह नरभव कठिन महा, किस गति में जायेगा।
यदि नरभव पाया तो, जिनश्रुत नहीं पायेगा।।
अनगिनती जन्मों में, अनगिनती कल्पों में।।''

जो जिनश्रुत की विराधना करे, जिनश्रुत का निषेध/अपमान करे; जिनश्रुत उसे मिले भी क्यों? श्रुतपंचमी पर्व श्रुत के सम्मान का, श्रुत की आराधना का, श्रुत के प्रचार का पर्व है। आओ! हम सब श्रुतदेवता की आराधना का संकल्प लें और एक साथ कहें – 'श्रुतदेवेभ्यो नमः'।

जून 2008

❑❑❑

परम उपकारी जिनवाणी, सहज ज्ञायक बताया है।
हुआ निर्भार अन्तर में, परम आनन्द छाया है।।टेक।।
उलझकर दुर्विकल्पों में, बीज दुःख के रहा बोता।
ज्ञान–आनन्दमय अमृत, धर्म माता पिलाया है।।1।।
नहीं अब लोक की चिन्ता, नहीं कर्मों का भय किंचित्।
ध्येय निष्काम ध्रुव ज्ञायक, अहो दृष्टि में आया है।।2।।

– ब्र. रवीन्द्र आत्मन्

9.
जिनदर्शन – निजदर्शन खातिर

मिथ्यात्व रोग से ग्रसित प्राणी अनादिकाल से जन्म-जरा-मृत्यु-क्षुधा-तृषा आदि के कष्टों को सहन कर रहा है। इन रोगों व कष्टों से मुक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है; अन्य नहीं।

सम्यग्दर्शन रोग मुक्ति हेतु महौषधि है, इसकी प्राप्ति हेतु जिनमन्दिर रूपी चिकित्सालय में आकर, जिनबिम्बरूपी चिकित्सक के पास आना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि जिनबिम्ब-दर्शन मनुष्य को, सम्यक्त्व प्राप्ति का प्रमुख निमित्त कारण है।

देवदर्शन/पूजन श्रावकों का प्रथम कर्त्तव्य है। जो इस प्रथम कर्त्तव्य से विमुख हैं, वे सम्यक्त्व अर्थात् मोक्ष/सुख/आनन्द/शान्ति से ही नहीं, वस्तुत: वे जैनत्व से भी विमुख हैं। जिन्हें जिनमन्दिर/जिनबिम्ब दूर लगते हैं, उनके नरक/कष्ट अति निकट हैं। भव-भय-भीरु व आनन्द पिपासु जीवों को जिनमन्दिर शान्ति सदन हैं, भव्य जीवों के शरणागार हैं, जहाँ पहुँचकर वे अष्ट कर्मरूपी शत्रुओं के प्रहारों से अपने आपको सुरक्षित कर लेते हैं।

नियमसारजी में मुनिराज पद्मप्रभमलधारीदेव कहते हैं –

''जिसे भव के भय का भेदन करनेवाले जिनेन्द्र भगवान के प्रति भक्ति नहीं है, वह तो भव-समुद्र के मध्य में रहने वाले मगर के मुख में है।''

जिस प्रकार दर्पण में हम अपना मुँह देखकर, उसके दोषों का प्रक्षालन करके निर्दोष रूप बना लेते हैं; उसी प्रकार जिनबिम्ब रूपी दर्पण के समक्ष पहुँचकर हम अपने दोषों की पहचान कर, उन्हें दूर करके अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य रूपी निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ में शुभचन्द्राचार्य कहते हैं –

''जिस प्रकार वस्त्राभूषणों से अलंकृत रूपवती सुन्दर स्त्री के चित्र

को देखकर मनुष्यों के चित्त में काम-विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेषादि जनित संकल्प-विकल्पों के चक्कर लगाने से थके हुए मनुष्य का मन भी श्री जिनेन्द्रदेव की वीतराग शान्त छवि के दर्शन से अवश्य ही स्थिरता व शान्ति को प्राप्त करता है।''

जिनदर्शन प्राप्त कर ज्ञानी भक्त का मन-मयूर नर्तन करने लगता है-

निरखत जिन-चन्द्रवदन स्वपद सुरुचि आई।
शाश्वत आनन्द स्वाद पायो विनस्यो विषाद।
आन में अनिष्ट-इष्ट कल्पना नसाई।। (कविवर दौलतरामजी)

जो गृहस्थ प्रतिदिन श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शन नहीं करते, उनके गुणों का स्मरण नहीं करते, वे अत्यन्त गहरे व भयंकर संसार-समुद्र में डूबते हैं। जिनदर्शन रहित गृहस्थपने को धिक्कारते हुए संयमप्रकाश में कहा भी है –

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तवन्ति न।
निष्फलं जीवनं तेषां, धिक् च गृहस्थाश्रमम्।।

''जो गृहस्थ प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र का दर्शन और स्तवन नहीं करते उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थपने को धिक्कार है।''

देवदर्शन या पूजन, देव के उपकार के लिए नहीं; अपितु स्वयं में देवत्व/पूज्यत्व प्रकट करने की भावना से की जाती है, इसी भावना से की जानी चाहिए। जो जिनेन्द्र के वास्तविक स्वरूप वीतरागता-सर्वज्ञता को नहीं जानते –

वे माँगें तुमसे धन समाज, वैभव पुत्रादिक राजकाज।

परन्तु जो मुमुक्षु हैं, निजामृत-पिपासु हैं; वे मुक्तदशा को प्राप्त को प्राप्त मोक्षमार्ग के नेता जिनेन्द्र परमात्मा के अभाव में जिनप्रतिमा के दर्शनार्थ आते ही हैं व दर्शन करके ऐसा मानते हैं कि –

पावन मेरे नयन भये तुम दरस तैं,
पावन पाणि भये तुम चरणनि परसतैं।।

पावन मन ह्वै गयो तिहारे ध्यान तैं।
पावन रसना मानी तुम गुण गान तैं।।
पावन भई परजाय मेरी भयो में पूरण धनी। (अभिषेक पाठ)

आज हम भोग प्रधान युग में जन्म लेकर निरन्तर भोगों की वासना के भोगी बन गये हैं, जिससे परम योगी की स्मृति भी नहीं आती। उनके दर्शन करने का भी मन नहीं होता; ऐसी दशा में स्वयं को जैन, अपने परिवार को जैन परिवार व अपने सदन को जैन सदन कहना निरर्थक ही है।

यदि हम जिनेन्द्र जैसी परम शान्ति चाहते हैं, विषय-कषाय-मिथ्यात्व-कर्मों से बचना चाहते हैं, तो हमें सम्यग्दर्शनरूपी औषधि, जिनमन्दिररूपी चिकित्सालय में जिनबिम्बरूपी चिकित्सक द्वारा ही प्राप्त हो सकती है; अत: जीवन की सफलता, भव का अभाव करने, जन्म-जरा-मृत्यु रोग से मुक्त होने, अनन्त आकुलता से बचकर, निराकुलता/शान्ति/आनन्द प्राप्ति करने हेतु निज/आत्मदर्शन करना आवश्यक है; क्योंकि निजदर्शन ही सम्यग्दर्शन है एवं निजदर्शन, जिनदर्शनपूर्वक ही होते हैं अथवा जिनदर्शन बिना निजदर्शन नहीं होते हैं अथवा परमार्थत: निजदर्शन ही जिनदर्शन है।

जैसा कि कहा भी है -

जिनदर्शन निजदर्शन खातिर, निजदर्शन जिनदर्शन है।।

अगस्त 2006

❑❑❑

आज अद्भुत छवि निहारी, भाव दूर भगे सब विकारी।।टेक।।
पूर्ण प्रभुता प्रभु-सी लखाई, दीनता आज सारी पलाई।
मैं स्वयं ही सहज सुख सागर, चेतनादिक गुणों का हूँ आगर।।
शक्ति शाश्वत अपरिमित सु-धारी, आज अद्भुत छवि निहारी।।1।।
– ब्र. रवीन्द्र आत्मन्

10.
बढ़ती उत्सव-प्रियता...

उत्सव/पर्व सदैव ही मनुष्य में नई ऊर्जा, उत्साह प्रदान करते रहे हैं। एक ओर जहाँ लौकिक उत्सव लौकिक क्षेत्र में आगे बढ़ने का संदेश देते हैं, वहीं धार्मिक उत्सव/पर्व वात्सल्यपूर्वक, धर्मप्रभावना करते हुए अपने परिणामों को उज्ज्वलता प्रदान करते रहे हैं। इसीलिए शाश्वत पर्व दशलक्षण/अष्टाह्निका तथा पंचकल्याणक/वेदी प्रतिष्ठा एवं विविध प्रकार के विधानों का आयोजन उत्साहपूर्वक सदा से होता रहा है और आत्महित व धर्मप्रभावना की भावना से भविष्य में भी होते रहना चाहिए। जिनागम में तो मृत्यु को भी महोत्सव के रूप में मनाने का संदेश दिया गया है अर्थात् हम देह वियोग जैसे प्रसंग को भी भेद विज्ञान के बल से आत्माराधना करते हुए एवं निकट भविष्य में अवशेष साधना को पूर्ण करने की उत्कट भावना से सोल्लास देह परित्याग करते हुए उस अवसर को भी उत्सव की तरह मनायें, आर्तध्यान करते हुए देह न छोड़ें। महोत्सव पूर्वक देह का त्याग वही कर सकता है जिसने देह से भिन्न निजात्मा की साधना की हो, देह का मोह कम किया हो; मोही तो रोते-रोते ही देह का परित्याग करते हैं।

वात्सल्यपूर्वक आत्महित व धर्मप्रभावना की भावना से उत्सवों का आयोजन साधर्मियों द्वारा आगमानुकूल पद्धति से किया ही जाना चाहिए, जिससे कि नई पीढ़ी भी पारस्परिक वात्सल्य व धर्म के मर्म को समझ सकें, धर्म के माहात्म्य को ग्रहण कर सकें। परन्तु आज हम चतुर्दिक् होते उत्सवों को देखते हैं तो हम समझ ही नहीं पाते कि यह उत्सव धर्मप्रभावना का उत्सव है या आत्मप्रभावना (अपने व अपने परिवार की) का? क्या इस उत्सव की अभी आवश्यकता थी? क्या धार्मिक उत्सव इस रूप में ही मनाये जाते हैं? इस उद्देश्य से ही मनाये जाते रहे हैं?

विचारकों के मन में निश्चित ही उक्त अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं,

क्योंकि आज के बहुत से धार्मिक उत्सवों का धर्म से दूर-दूर का भी संबंध दिखाई नहीं देने लगता है। संबंध दिखता है तो धन का, प्रतियोगिता का, प्रदर्शन का अर्थात् अपनी कमीज की सफेदी को दूसरों की कमीज से ज्यादा सफेद दिखाने का।

हमारी उत्सवप्रियता इतनी बढ़ती जा रही है कि हम शाश्वत पर्वों व आवश्यक पंचकल्याणक/ वेदीप्रतिष्ठा महोत्सवों के अलावा भी किसी न किसी रूप में उत्सव मनाना चाहते हैं और जब उत्सव छोटा लगने लगता है तो महोत्सव नाम दे दिया जाता है इतने से भी मन/मान नहीं मानता तो महा महोत्सव नाम से अलंकृत किया जाता है। उत्सव को महा महोत्सव बनाने में हम भव्य पाण्डाल, कान फोड़ स्पीकर, तानतोड़ गायक, हजारों जीवों को भस्म करतीं बिजली की अनावश्यक रोशनी, महोत्सव व आयोजकों के गुणानुवाद करते प्रवचन (?) व सम्मान समारोह, धर्मप्रचार के नाम से प्राप्त दानराशि का अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने व महोत्सव को स्मरणीय बनाने के लिए बारातों जैसे भोजन की व्यवस्थायें, सबके भार को उतारते हुए आभार प्रदर्शन आदि का जबरदस्त/ऐतिहासिक प्रदर्शन करते हैं।

यहाँ विचारणीय बिन्दु यह है कि क्या हम विशेष अवसरों के अतिरिक्त सामान्य प्रसंगों को सामान्यरूप में ही नहीं मना सकते हैं। विडम्बना तो तब होती है जब एक दिन या दो दिन के भी शिविरों का आयोजन भव्य/ ऐतिहासिक उत्सव के साथ किया जाता है, जिसमें आधे से ज्यादा समय उद्घाटन/समापन में ही निकल जाता है। क्या हम किसी प्रसंग पर दो दिन हों या चार दिन बिना शोरगुल, धमाचौकड़ी, बिना संगीत/बिना लाइट की चकाचौंध/बिना रंगीन पत्रिका और बिना उद्घाटन/समापन के मात्र धर्म समझने/समझाने/पाने की भावना से आयोजित नहीं कर सकते? ऐसा करने से भले ही हमारी लौकिक प्रतिष्ठा नहीं बढ़े पर अपने को अपने में प्रतिष्ठित करने के अवसर जरूर मिलेंगे।

स्वाध्यायी समाज को आज की इस प्रातियौगिक समारोह/उत्सव

प्रियता की संस्कृति से बचना चाहिए। हमें दूसरों को देख-देख कर पाण्डालों की भव्यता, दिग्दिगन्त को गुंजायमान करनेवाले लाउड स्पीकरों, अनावश्यक पत्रिकाओं के प्रकाशन, व्यर्थ की बिजली, मात्र देह व मान पोषक भोजों से बचकर विशिष्ट प्रसंगों के अतिरिक्त सादगीपूर्ण तरीके से प्रदर्शन को गौण व दर्शन को मुख्यकर आत्महितकारी तत्त्वचर्चाओं में समय लगा कर उत्सव मनाना चाहिए।

प्रदर्शन बिना का प्रदर्शन ही आदर्श बने तो कितना अच्छा हो।

दिसम्बर 2013

❑❑❑

भगवान के दरवाजे भी आज पैसे से खुल रहे हैं।
पाप के गहरे दाग भी, दान से धुल रहे हैं।
यों शोषण को कोसने से, कोई नहीं चूकता।
धर्मात्मा के वेष में अनैतिक तत्त्व पल रहे हैं।।

❁❁❁

इधर चलती कतरनी उधर चलती हाथ में माला।
है मन में कुछ और, कहते और करते कुछ और लाला
अरे महावीर के अनुयायियो अब तो जरा चेतो,
तुम्हारे आचरण ने, धर्म को बरबाद कर डाला।।

❁❁❁

आतम ज्ञान विचार से, जग नाटक का खेल।
देखत हैं ज्ञानी सदा, करत न तासें मेल।।
निर्धन हो या हो धनिक, सेवक स्वामी होय।
सदा सुखी अध्यात्म से, दुःखी न कबहुँ होय।।

11.
धन के पीछे चला गया नरजीवन धन...

'पैसा हाथ का मैल है।' 'कफन में जेब नहीं होते।' आदि नीति वाक्यों को प्राय: सभी बोला करते हैं, जिनागम के अनुसार भी कुछ पंक्तियाँ यदा-कदा बोल देते हैं। यथा - ''धन, समाज, गज, बाज, राज तो काज न आवे'' - आदि।

हम परस्पर जबान से इन नीति वाक्यों का उपयोग करते हैं, परन्तु जीवन में इनका अद्यतन प्रयोग न कर सके। निरन्तर धन की लिप्सा में हम भाग रहे हैं। चतुर्दिक् एक होड़-सी मची हुई है, कि किसके पास कितना धन है? कितने का बंगला है? कितने की कार है? सामने वाले से अधिक बैंक बैलेंस चाहिए। चाहे उससे अपने जीवन का बैलेंस ही बिगड़ जाये, टूट जाये। भूल गये सब राम/आत्म धुन, लगी हुई है बस धन की धुन।

क्या इसीलिए हमने यह मानव जीवन एवं उत्कृष्ट जैन कुल/धर्म प्राप्त किया है। क्या संग्रह करने में व्यस्त, त्रस्त, संतप्त रहकर जीवन बिताना ही बुद्धिमत्ता है? पुण्योदय होने पर, पाप क्रिया व पाप भावों द्वारा धन कमाओ व पाप भावों व पाप क्रियाओं के पोषण में ही लगाओ; क्या यही है हमारी बुद्धिमत्ता? क्या यही है हमारी शिक्षा व मन का सदुपयोग?

संग्रह तो चींटी भी करती है, मधुमक्खी भी करती है, पर जो दुर्दशा उनकी होती है वही दशा हमारी भी हो सकती है, इसका हमें पता ही नहीं है। मधुमक्खी द्वारा संग्रहीत शहद को तो लुटेरे लूट ही लेते हैं साथ ही वह व्यर्थ में ही प्राण भी गंवा देती है। इसी तरह हम भी यदि चेत न सके, जीवन के इस रहस्य का समझ न सके कि सुख धन-संग्रह में नहीं, कषाय घटाने में है तो हम भी लूट लिये जायेंगे (जड़ धन परिजनों द्वारा व ज्ञानधन मोह द्वारा) व यह अमूल्य मानव तन तथा जैनधर्म रूपी महारत्न हमसे छिन जायेगा।

भैया भगवतीदासजी कहते हैं -

जा लक्ष्मी के काज तू खोवत है निज धर्म ।
सो लक्ष्मी संग न चले, काहे भूलत भर्म।।

पहले कहा जाता था कि -

कला बहत्तर पुरुष की, तामैं दो सरदार।
एक जीव की जीविका, दूजी आत्मोद्धार।।

पर हम आत्मोद्धार की सर्वश्रेष्ठ कला को भूल कर, समस्त धार्मिक आवश्यक क्रियाओं को छोड़कर मात्र एक ही कला/विद्या सीख रहे हैं, अर्थकरी विद्या, वह अर्थकरी विद्या हमसे कितने अनर्थकारी कार्य करवाती है यह हम जीवन पर्यन्त समझ ही नहीं पाते।

हम आचार्य-उपाध्याय, साधु को मानते हैं, भगवान को मानते हैं, 24 ही नहीं 170 तीर्थंकरों को व 3 कम 9 करोड़ मुनिराजों को भी मानते हैं पर उनमें से एक की भी नहीं मानते।

किन आचार्य या भगवान ने कहा है कि -

दिन-रात करो धन का चिन्तन, सम्भाषण में वही कथन।
धर्म को छोड़ो, धन को जोड़ो, चाहे होवे वह परधन।।

ऐसा तो किसी ने नहीं कहा है तो फिर हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मात्र पंच परमेष्ठियों को मानने से धर्म नहीं होगा, शान्ति नहीं मिलेगी अपितु उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को मानने पर ही शान्ति मिलेगी। इसलिए नहीं कि ऐसा आचार्यों ने कहा है अपितु एकमात्र यही अनुभूत सत्य है, परम सत्य है; तत्त्वज्ञान ही शान्ति से जीन जीने की अनूठी कला है। जो धनादि की प्राप्ति से सुख की कल्पना करते हैं, उसके लिए ही अपना सब कुछ समर्पित करते हैं।

उनके संबंध में इष्टोपदेश में पूज्यपादाचार्य कहते हैं -

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा।।

"जैसे कोई ज्वरवान घी खाकर या लगाकर ऐसा माने कि मैं स्वस्थ हो रहा हूँ, उसकी यह कल्पना मिथ्या है उसी प्रकार कठिनाई से प्राप्त, असुरक्षित व नाशवान धन से सुख की कल्पना करने वाला व्यक्ति है।

अन्यत्र आचार्यदेव कहते हैं –

अर्थस्योपार्जने दु:खमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दु:खं व्यये दु:खं धिगर्थं दु:खभाजनम्।।

"धन के कमाने में दु:ख, उसकी रक्षा करने में दु:ख, उसके आने में दु:ख, जाने में दु:ख; इस तरह हर हालत में दु:ख के कारण स्वरूप धन को धिक्कार है।"

धन तो परद्रव्य है, वस्तुत: वह न तो दु:ख का कारण है और न पाप का; पर उसकी प्राप्ति की अभिलाषा, प्राप्ति पर होने वाला मद, प्राप्त कर होनेवाली दुश्चिन्तायें, पाप कार्यो/मान बढ़ाई आदि पर किया जानेवाला व्यय करने का भाव यह सब दु:ख रूप है व दु:ख का कारण है क्योंकि यह सब ज्ञानधन को हरण कर आकुलता ही उत्पन्न करने वाले हैं।

कदाचित् हमारा विचार हो कि हम धर्म मार्ग से बहुत धन कमायेंगे तब तो ठीक है?

इस सम्बन्ध में आत्मानुशासनकार गुणभद्राचार्य कहते हैं –

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पद:।
न हि स्वच्छाम्बुधि: पूर्णा: कदाचिदपि सिन्धव:।

जिस प्रकार निर्मल जल से कभी भी समुद्र नहीं भरता । उसी प्रकार न्यायोपार्जित धन से सज्जनों की भी सम्पदा नहीं बढ़ती।

क्या हम मानवजीवन का एक-एक पल भी लाखों की सम्पत्ति देकर वापिस प्राप्त कर सकते हैं? नहीं। तो फिर अमूल्य जीवन को कागज के चन्द टुकड़ों के पीछे इस नरजीवन धन को बरबाद करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है।

कदाचित् लौकिक जीवन संचालन हेतु धन का होना आवश्यक हो पर इतना तो ध्यान रखा ही जाना चाहिए कि धन हमारी सुख-सुविधा व धर्म-साधन के निमित्त हैं, हमारी सुख-सुविधा व धर्म साधन धन के निमित्त नहीं अर्थात् जीवन के लिए धन है, धन के लिए जीवन नहीं।

नर-तन की कीमत पहचानो, करो धर्म-साधन।
सोना-चाँदी साध्य न मेरा, साध्य एक है धर्माराधन।।

लौकिक जीवन संचालन का, धन को लौकिक जन कहते साधन।
पर जिनदेव कहें सुन भैया! पूर्ण सुखी सिद्धों के पास; कहाँ है धन?

मार्च 2009

❒❒❒

चेतन जी तुम जोड़त हो धन, सो धन चलै नहीं तुम लार।
जाको आप जानि पोषत हो, सो तन जरिकै ह्वै छार।।
विषय भोग को सुख मानत हो, ताको फल है दु:ख अपार।
यह संसार वृक्ष सेमर को, मानि कह्यो मैं करो पुकार।।

***

जो सम्पत्ति करी इकट्ठी, उसको सब ही भोगेंगे।
और पाप फल पाने को, तुझे अकेला छोड़ेंगे।।

***

किसका कैसा गर्व अरे यह जीवन ही सपना है,
सर्वनाश के इस विनाश में कौन कहाँ अपना है।।
जुड़ा रहेगा सदा नहीं यह मेहमानों का मेला।
एक-एक कर नाश करेगा सहसा काल अकेला।।

***

खुद पे भरोसा करना तो कोई परिंदों से सीखें; क्योंकि जब वो शाम को घोंसलों में वापस जाते हैं तो उनकी चोंच में कल के लिए कोई दाना नहीं होता।

12.

क्या हम स्वर्गवासी हुए बिना अर्चना नहीं कर सकते?

पंचकल्याणकों, बेदी प्रतिष्ठाओं में विधि शास्त्रों के अनुसार इन्द्र-इन्द्राणियों की स्थापना होती रही है और इस अवसर पर बोलियों आदि के माध्यम से उपयुक्त व्यक्ति का चयन होता रहा है; जिससे कार्यक्रम की शोभा भी बढ़ती है और अर्थव्यवस्था होकर उस आयोजन की व्यवस्थाओं एवं आगामी सामाजिक/धार्मिक गतिविधियों के संचालन में भी सहयोग होता रहा है।

इसके लिए साक्षात् सम्पन्न होने वाले पंचकल्याणकों में जिस प्रकार इन्द्रों ने स्वर्ग से आकर अपना भक्तिभाव प्रदर्शित किया था अपने भाग्य की सराहना की थी, उसका स्मरण कराते हुए यह अवसर पाकर धर्मप्रभावना के इन कार्यों में सम्मिलित होने हेतु प्रेरित भी किया जाता रहा है जो कि प्रसंगानुकूल होने से आवश्यक भी है और उचित भी।

इसीलिए ऐसे भव्य प्रसंगों पर इन्द्र-इन्द्राणी बनना एक तो भक्तिभाव को प्रदर्शित करने, दूसरे सम्मान का सूचक होने एवं धर्मप्रभावना का अंग होने से प्रत्येक व्यक्ति को आकर्षित करता रहा है।

परन्तु आज हम एक कुशल व्यवसायी की भाँति इन पदों का आकर्षण समझते हुए इन पदों को अर्थसंग्रह का एक सुगम माध्यम मानकर प्रत्येक अवसर पर सौधर्म आदि इन्द्र बनाने/बनने लगे हैं। चाहे दशलक्षण पर्व हों, अष्टाह्निका पर्व हों, किसी भी विधान का अवसर हो या चाहे प्रतिदिन होने वाले अनुष्ठान, अनेक स्थानों पर तो प्रतिदिन के अभिषेक के लिए भी सौधर्म आदि इन्द्र बनने की बोलियाँ होतीं हैं, एक दिन का विधान हो तो भी पूरा इन्द्र परिवार सजाया जाता है।

यहाँ यह विचारणीय है कि क्या सभी प्रकार के अनुष्ठान क्या

इन्द्रादि ही करते हैं; मनुष्य नहीं? क्या हम स्वर्गवासी हुए (इन्द्र-इन्द्राणी बने बिना) देव-शास्त्र-गुरु की आराधना नहीं कर सकते? क्या हम मनुष्य बने रहते हुए अर्थ सहयोग नहीं कर सकते? क्या देव ही पुण्यवर्धनी क्रियायें कर सकते हैं?

वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है; जबकि ऐसा तो है कि बाल तीर्थंकर का अभिषेक करने का सौभाग्य भले ही इन्द्रों को हो पर जिन प्रतिमा का प्रक्षाल/अभिषेक करने का सौभाग्य मात्र मनुष्यों को ही है क्योंकि जिनमंदिर निर्माण, जिन प्रतिमा की स्थापना आदि यह सब मनुष्यलोक का व्यवहार है (देवलोक में तो अकृत्रिम जिनालय जिनबिम्ब हैं), अत: तत्संबंधी अन्य व्यवहार पूजनादि मनुष्यों का ही जन्मसिद्ध अधिकार है, तब फिर हम क्यों अपने जन्म सिद्ध अधिकार को छोड़कर मनुष्य होते हुए भी स्वर्गवासी बनने की भावना रखते हैं। जब वहाँ का वासी बनने का अवसर आयेगा (वह तो आपको सहज ही यहाँ के कर्त्तव्यों के पालन करने के फलस्वरूप प्राप्त हो जायेगा) तब वहाँ के योग्य कार्य करना, अभी तो बड़े भाग्य से नरतन पाया'' - इसी के अनुसार धर्माचरण करना चाहिए।

मनुष्य पर्याय तो वह पर्याय है जिसे पाने के लिए देवगण तरसते हैं इसके प्रमाणस्वरूप आगम में यत्र-तत्र पढ़ने को मिल जायेगा पर ऐसा कहीं कथन नहीं मिलेगा कि कोई ज्ञानी धर्मात्मा स्वर्ग जाने को तरस रहा हो। यहाँ तो ज्ञानी भक्त यही कहता है कि 'इन्द्रादिक पद नहीं चाहूँ' 'इन्द्र नरेन्द्रों के वैभव की चाह करूँ में स्वाहा।' (यह अलग बात है कि साधना पूर्ण न होने तक देव गति में जाना पड़े) मनुष्य पर्याय वह पर्याय है जहाँ संयम धारण कर सकते हैं, महासंयमी परमपूज्य मुनिराजों को आहारदान कर सकते हैं जबकि देवगण न तो संयम धारण कर सकते हैं ना ही आहारदान कर सकत हैं। पंच परमेष्ठियों में से चार परमेष्ठी मनुष्य हैं एवं एक परमेष्ठी (सिद्ध) मनुष्य पर्याय में की गई साधना के फलस्वरूप ही हैं। देवगण तो केवल भगवान के

साक्षात् होनवाले पंचकल्याणकों को भक्तिभावपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार मनाते हैं व धर्मप्रभावना कर तथा भावी तीर्थंकर की सेवा कर अपने को धन्य मानते हैं। हम भी यदि भक्तिभावपूर्वक अपनी शक्ति छिपाये बिना धर्मप्रभावना व आत्मकल्याण की भावना से तन-मन-धन व कृत-कारित-अनुमोदना से पूजन, भक्ति, मंदिर निर्माण, भगवान, जिनवाणी, मुनिराजों के चरणों की स्थापना करते हैं, जिनवाणी का अभ्यास व प्रचार करते हैं तो हमारा जीवन भी निश्चित ही पवित्र व आदर्श कहलायेगा।

इतना सब होते हुए भी हम मनुष्य होकर, स्वर्गवासी अर्थात् देव बनने को गौरव का विषय क्यों समझ रहे हैं? शायद हमने इस संबंध में कभी विचार नहीं किया। हम हार-मुकुट पहन कर फोटो खिंचाने, सबसे आगे, सबसे ऊपर नजर आने के चक्कर में सत्य को समझना ही नहीं चाहते। पूजा हार मुकुट पहनने वाले की नहीं यह सब कुछ त्यागने वाले की होती है और त्याग मात्र मनुष्य गति में ही संभव है अर्थात् पूज्य बनने का एकमात्र अधिकार इस मनुष्य पर्याय में ही है।

विधि-विधानों में उल्लिखित पंचकल्याणक आदि जैसे महान अनुष्ठानों को - जो कि देवों द्वारा ही आयोजित किये जाते हैं, उन आयोजनों की प्रस्तुति उन्हीं भावों से करने हेतु विधि शास्त्रों के अनुसार उनमें इन्द्रादि की स्थापना किया जाना आवश्यक, शास्त्र तथा युक्तिसम्मत है; अत: वह कार्य होना ही चाहिए और ऐसे अनुष्ठानों में सम्मिलित होकर भी अपने को सौभाग्यशाली समझना चाहिए; क्योंकि सामान्यत: जो कार्य हम मनुष्य रहकर नहीं कर सकते थे; वह कार्य हमने अपने में इन्द्र पद की स्थापना कर सम्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त किया अर्थात् हम मनुष्यों के कर्तव्यस्वरूप अनुष्ठान तो करते ही हैं, परन्तु देवलोक द्वारा सम्पन्न होने वाले अनुष्ठान को भी हमने किया यह महद्भाग्य है - ऐसा समझना चाहिए।

ऐसे महान अनुष्ठानों के अतिरिक्त जो सामान्य अनुष्ठान हैं, उन्हें हमें

मनुष्य लोक के योग्य किया जाने वाला व्यवहार समझकर बड़े ही गौरव, गरिमा, महिमा, भक्ति, विवेक, समर्पण पूर्वक करना चाहिए, इसी में हमारे मनुष्य होने की सार्थकता है। साथ ही जिनधर्म प्रभावना में किसी भी निमित्त, किसी भी प्रकार से तन-मन-धन निरभिमानी होकर, लोभ कषाय को कम करते हुए अवश्य ही समर्पित करना चाहिए।

कलयुगी दोहे

नयी सदी से मिल रही, दर्द भरी सौगात।
बेट कहता बाप से, तेरी क्या औकात।

अब तो अपना खून भी, करने लगा कमाल।
बोझ समझ माँ-बाप को, घर से रहा निकाल।।

पानी आँखों का मरा, मरी शर्म ओ लाज!
कहे बहू अब सास से, घर में मेरा राज।।

भाई भी करता नहीं, भाई पर विश्वास।
बहन पराई हो गयी, साली खासमखास।।

मंदिर में पूजा करें, घर में करें कलेश।
बापू तो बोझा लगे, पत्थर लगे गणेश।।

बचे कहाँ अब शेष हैं, दया, धरम, ईमान।
पत्थर के भगवान हैं, पत्थर दिल इंसान।।

पत्थर के भगवान को लगते छप्पन भोग।
मर जाते फुटपाथ पर, भूखे प्यासे लोग।।

फैला है पाखंड का, अन्धकार सब ओर।
पापी करते जागरण, मचा-मचा कर शोर।।

पहन मुखौटा धरम का, करते दिन भर पाप।
भंडारे करते फिरें, घर में भूखा बाप।।

श्री राम-नन्दिनी ग्रन्थमाला का तृतीय पुष्प

बढ़े सो पावे

- राजकुमार शास्त्री

प्रकाशक

समर्पण

ध्रुवधाम, पो. कूपड़ा, जिला-बाँसवाड़ा (राज.)

मो. + 91 94141 03492

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
दिनांक : दशलक्षण पर्व : 29 अगस्त, 2014
प्राप्ति स्थान : समर्पण + 91 94141 03492
लागत मूल्य : 15 रुपये मात्र
पुनः प्रकाशन हेतु सहयोग राशि : 10 रुपये मात्र
प्रकाशन सहयोग : प्रीति-एनी जैन, जयपुर 1000/-
मुद्रण व्यवस्था : प्री एलविल सन (संजय शास्त्री)
बी. 180 मंगल मार्ग, बापू नगर, जयपुर + 91 95092 32733

प्रकाशकीय

'समर्पण' द्वारा समर्पित साधर्मियों के सहयोग से अभी तक श्री राम-नन्दिनी ग्रन्थमाला के अंतर्गत श्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन एवं 'बढ़ते भगवान - घटते भक्त' के तीन संस्करण प्रकाशित किये जा चुके हैं।

इस वर्ष राजकुमार शास्त्री द्वारा लिखित 'विलक्षण दशलक्षण' व 'बढ़े सो पावे' (निबंध) एवं 'कर्म विचारे कौन' (एकांकी संग्रह) प्रकाशित किये जा रहे हैं।

पाठकों ने उक्त पुस्तकों को प्रकाशन पूर्व संपादकीयों के रूप में पसंद किया है, जो कि इन पुस्तकों की विषय-वस्तु की आवश्यकता की ओर इंगित करता है। जिस निबंध के नीचे स्थान शेष था, वहाँ पर पठनीय काव्यों को संकलित किया गया है। जिन कवियों की वे कवितायें (अंश) हैं, उनके प्रति हार्दिक आभार।

'समर्पण' अनुपलब्ध या नवोदित लेखकों के स्तरीय साहित्य प्रकाशन की भावना रखता है। अगर आपके पास ऐसा कोई साहित्य हो तो हमें जरूर उपलब्ध करवावें, हम आपके ही सहयोग से यह कार्य सम्पन्न कर गौरवान्वित अनुभव करेंगे।

हमारा अगला प्रकाशन भगवान महावीर से संबंधित (महावीर जयन्ती, वीर शासन जयन्ती, दीपावली) कविताओं के संकलन का है। यदि आपके द्वारा रचित या संकलित कविता हो तो कृपया हम तक पहुँचायें, साथ ही प्रकाशन सहयोग या मूल्य कम करने अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

'समर्पण' का स्वयं कोई फण्ड नहीं है, बनाने की इच्छा भी नहीं है; परन्तु इतना निवेदन है कि जब प्रकाशन आदि कार्य हो, उस समय प्रकाशन/मूल्य कम करने में सहयोग व पुस्तकों का मूल्य पुनर्प्रकाशन हेतु सहर्ष प्रदान करें, आपका इतना समर्पित सहयोग भी 'समर्पण' हेतु पर्याप्त है।

अंत में हम लेखक, ग्रन्थमाला संचालक, अर्थ सहयोग करने वाले साधर्मियों एवं बुद्धिमान् पाठकों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं, जिनके सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो रहा है।

सुन्दर मुद्रण हेतु प्री एलविल सन, जयपुर के संजय शास्त्री (बड़ा मलहरा), जयपुर एवं मूल्य कम करने में सहयोग प्रदान करने वाले सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

'समर्पण' परिवार

राजकुमार शास्त्री	ऋषभ शास्त्री	अजित शास्त्री	रतन शास्त्री	पीयूष शास्त्री
8003639039	09425845620	9414499549	8104597337	9785643202

मन की बात

राजकीय सेवा के कारण सहज सौभाग्यवशात् बाँसवाड़ा आना हुआ एवं ज्ञायक परिवार से परिचय एवं उनके साथ रहने का अवसर प्राप्त हुआ। इसी परिवार के तन-मन-धन के समर्पण के परिणाम स्वरूप विपरीत सामाजिक परिस्थतियाँ होते हुए भी 'रत्नत्रय तीर्थ ध्रुवधाम' की स्थापना हुई। उनके स्नेह के कारण ही मुझे इसमें कुछ श्रमदान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री महीपाल ज्ञायक की भावनानुसार 'ध्रुवधाम' के शिलान्यास के अवसर (8.12.2004) पर ही 'ध्रुवधाम' मासिक पत्रिका के प्रकाशन का भी निर्णय हुआ। अन्य योग्य व्यक्ति यहाँ न होने से सहज ही इसके संपादन का गुरुतर दायित्व मुझे मिला।

मैं लेखन कार्य से काफी दूर रहा था। परीक्षा एवं पत्रों के अलावा शायद ही कभी कुछ लिखा हो; पर जब सम्पादन का कार्य दिया गया तो अपना भी नाम होगा - यह सोचकर स्वीकार कर लिया। भाई साहब ने पहली ही मीटिंग में कहा कि ''भाई साहब! पत्रिका की पहचान उसके सम्पादकीयों से होती है तथा सम्पादकीय भी सम-सामयिक लिखे जाने चाहिए, साथ ही एक माह का सम्पादकीय का सम्बन्ध उसी माह से होना चाहिए अर्थात् क्रमशः नहीं चलना चाहिए।''

यह सुनकर तो मैं चक्कर मैं पड़ गया कि अब क्या किया जाये- अन्ततः कुछ लिखने के लिए कलम उठाई। हर माह नया सम्पादकीय लिखा जाने लगा। अपने विचारों को समाज तक भेजने का सहज माध्यम भी बन गया। कुछ सम्पादकीयों पर वरिष्ठ विद्वानों/विचारकों की प्रशंसा पाकर मन उत्साहित हुआ तो किसी-किसी पर आपत्ति भी कुछ लोगों ने की। फिर भी अधिकांश पाठकों को हमारे विचार अच्छे लगे; फलस्वरूप पहले सम्पादकीय के रूप में प्रकाशित चौदह निबन्धों का संग्रह 'बढ़ते भगवान - घटते भक्त' के दो वर्षों में तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

इससे उत्साहित होकर ही हम यह दूसरा संग्रह 'बढ़ै सो पावे' प्रस्तुत कर रहे हैं। कोई भी लेख किसी व्यक्ति/संस्था विशेष पर आधारित नहीं है, गतिविधि विशेष को जरूर रेखांकित किया गया है। उसी गतिविधि का कदाचित् दूसरा पहलू भी हो सकता है, मुझे उस पहलू का ज्ञान है भी और नहीं भी है। पर यह विचारणीय है कि आगम/तर्क/आत्महित के लक्ष्य से कौन-सा पहलू वजनदार है। आपको जो भी स्वीकार्य हो; करें।

यह भी एक विडम्बना है, हमने जो लिखा है, अधिकांश पाठक स्वीकार करते हैं कि मुझे भी यही अच्छा लग रहा है या सच में बहुत विकृतियाँ फैल रही हैं, परन्तु धन या नाम के लिए व्यक्ति वही करने को तैयार हो जाता है। अस्तु!

जिसे जो लगे, वह कहे/करे। यदि आपको हमारे विचार अपने लगते हैं तो यह पुस्तक आपको ही समर्पित समझें/आपकी ही समझें। बस, एक निवेदन पुनः; किसी भी बात को किसी एक व्यक्ति, संस्था के सन्दर्भ में न देखें; देश की विराट समाज में विकराल रूप लेती जा रही विकृतियों के रूप में देखें तो निबन्धों के प्रति न्याय होगा।

अन्त में श्री महीपाल ज्ञायक को हार्दिक धन्यवाद देना चाहूँगा, जिन्होंने विचार व्यक्त करने हेतु पत्रिका का मंच दिया, नया लिखने की प्रेरणा दी एवं लगभग प्रत्येक लेख को छपने से पूर्व पढ़कर उचित मार्गदर्शन दिया।

अब आपके हाथों में है -'बढ़े सो पावे'।

- राजकुमार शास्त्री
'ध्रुवधाम', बाँसवाड़ा

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ
1.	बढ़ै सो पावे...	1
2.	क्या आदर्श कभी यथार्थ नहीं होना चाहिए? (आदर्श चित्र में या चित्त में?)	5
3.	देव-शास्त्र-गुरु प्राप्ति की सार्थकता...	8
4.	आध्यात्मिक पर्वों का बदलता/बिगड़ता स्वरूप	11
5.	महावीर के तत्त्वज्ञान व संस्कारों को जन-जन तक पहुँचाओ....	14
6.	मतभेद हो, पर मनभेद न हो...	19
7.	हे महावीर! यदि इतना भी सम्भव हो जाये	23
8.	श्रुतदेवेभ्यो नमः	26
9.	जिनदर्शन - निजदर्शन खातिर	30
10.	बढ़ती उत्सव-प्रियता...	33
11.	धन के पीछे चला गया नरजीवन धन...	36
12.	क्या हम स्वर्गवासी हुए बिना अर्चना नहीं कर सकते?	40